एक भोर जुगनू की

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

ज्ञान साहित्य घर

जबलपुर, मध्यप्रदेश

मेरे स्वर्गीय दादा बाबू श्यामलालजी उपाध्याय 'श्याम' को

जिन्होंने

मेरे मानस को लेखन के संस्कार दिए

और

श्रद्धेय रामभाऊजी शास्त्री को जिन्होंने मेरे नन्हें हाथों को सबसे पहले लेखनी पकड़ाई

भूमिका

श्री नर्मदाप्रसाद उपाध्याय का ललित निबंध संग्रह 'एक भोर जुगनू की' पढ़कर बड़ी परितृप्ति हुई। इसमें कुल इक्कीस निबंध हैं। पलाश के ज़िक्र से शुरू होते हैं और "फूल, चिंगारी और सच" पर समाप्त होते हैं। ये निबंध सहज और मुक्त हैं, प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन न देते हुए बाह्य प्रकृति को अंतः प्रकृति में भरते हुए निबंधकार विराट सामंजस्य की बात करना चाहता है। बात करते समय उसे लगता है, बयार दूसरी दिशा में बह रही है, पर वह धुनी है, अपनी बात कहे बिना नहीं रहता। सर्वत्र औपचारिक कृत्रिमता के विरुद्ध वह तनकर खड़ा है और राजधानी के प्रोटोकोल में सहमी हुई आत्मीयता को आवाहित करता रहता है, सहमो मत तुम न रहोगी तो मनुष्य के ये सारे तामझाम निरर्थक हो जाएँगे।

इन निबंधों के निर्बंध चिंत की यात्रा तो है ही, वर्तमान को बार–बार मुट्ठी में लेने का पौरुष भी ललकारता रहता है। इसलिए निबंध लुजलुजे नहीं हैं तने हुए हैं, अवधूत शाल के वृक्ष की तरह।

श्री नर्मदाप्रसाद उपाध्याय दुर्घटनावश या सुघटनावश ऊँचे अधिकारी हैं बिक्रीकर विभाग में, परंतु स्वभाव उन्होंने पाया है क्रय–विक्रय से दूर, मोल–तोल से दूर सहज स्नेह का, जहाँ एक तो सौदा होता नहीं, होता है तो साँसों का, प्राणों का, अहंताओं का। इसीलिए उनका आक्रोश भी जहाँ–तहाँ तीव्र होते हुए भी मधुर है, लगता है वह आक्रोश नहीं, उपालम्भ है। इस वैयक्तिक गुण ने निबंधों को अद्‌भुत मसृणता प्रदान की है।

इस संग्रह के कई स्थलों पर तो विंध्यपर्वतमाला और इसकी नदियाँ, इसके पत्थर, इसकी चोटियाँ, इसकी वनस्पति ये सब छाए हुए हैं। पर समग्र दृष्टि से ये सभी निबंध उदार भारतीय चेतना के नए ज्वार से तंरगायित हैं। मैं यही आशीर्वाद देता हूँ कि यह शुरुआत और बेहतर के लिए हो, "जुगनू की भोर" "दुपहरिया का फूल" बन जाए।

बैशाख सुदी – 3 / 2050

– विद्यानिवास मिश्र

कुछ अर्घ्य कुछ आचमन

यह मेरे निबंधों का पहला संग्रह है। ये निबंध ललित निबंध कहे जा सकते हैं क्योंकि इनकी भाषा में लालित्य है लेकिन इनके प्राणों में खुरदुरापन। विसंगति, वैषम्य और विद्रूप जो हमारे आचरण और चरित्र में, वातावरण और परिवेश में है वह इनमें मुखर हुआ है। इस मायने में इनकी भाषा मौन रहेगी और प्राण बोलेंगे।

आज के ललित निबंध की यही नियति भी कही जा सकती है कि उन्हें मखमल ओढ़कर टाट की अस्मिता बयान करनी है। संदर्भों से परे रहकर लिखने से बेहतर है कि चिंतन को ही विराम दे दिया जाए।

हिंदी में ललित निबंधों की अपनी परम्परा रही है, समृद्ध और जीवंत। आधुनिक युग में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी से लेकर डॉ. विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय और विवेकीराय जैसे ललित निबंधकारों की थाती है हिंदी के पास। डॉ. विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध आधुनिक हिंदी गद्य के सर्वश्रेष्ठ निबंध हैं, ऐसे निबंध जिनमें हमारी हज़ारों वर्षों की सांस्कृतिक परम्परा, आध्यात्म का ललित बोध और जीवित संदर्भों की पीड़ा समाई है।

ये निबंध एक संवेदनशील, समृद्ध और जाग्रत चेतना के प्राणवान अक्षर रूपायन है।

ललित निबंध को एक विरल विधा रूप में प्रतिष्ठा दी जाती रही। माना जाता रहा कि यह हिंदी साहित्य की गरिष्ठ विधा है, जिसका केवल साहित्यिक महत्त्व है, जो पंडिताऊ, बोझिल और प्रतिगामी है। इसमें लिखने का आकर्षण भी नहीं रहा। सम्भव है यह धारणा ऐसे कुछ निबंधों को पढ़ने पर बनी हो जिनमें ये तत्त्व हों मगर ऐसा तो प्रायः प्रत्येक विधा में होता आया है। ऐसे सोच का कारण सम्भवतः यह है कि सम्वेदना को जितना आज के युग में व्यंग्य निबंधों ने छुआ उतना ललित निबंधों ने नहीं। दूसरे इसके लेखन का प्रवाह क्षीण रहा। पांडित्य को थोपने के जो प्रयास हुए वे भी इस धारणा को मज़बूत बनाने में सहायक हुए। गरिष्ठ भाषा के बोझ ने भी सहज अभिव्यक्ति को अवरुद्ध किया। गाँव पांडित्य से लाया गया जबकि उसे पगडंडियों से आना था।

फिर भी इन तमाम अवरोधों के बावजूद ललित निबंध की अविराम यात्रा जारी रही है। बिना किसी अपेक्षा के, सहज सम्प्रेषणीय और पगडंडी लेखन करने वाले रामनारायणजी उपाध्याय जैसे सरल लेखक इस विधा से जुड़े रहे हैं, जिन्होंने आधुनिक ललित निबंध को भाषा के आभिजात्य से मुक्त किया। •

मैं अनुभव करता हूँ कि चाहे डॉ. श्यामसुन्दर दुबे हों, या श्रीराम परिहार, अपने ललित निबंध रचते समय ये आधुनिक रचनाकार अपने आपको पूरी तरह अपने परिवेश से, मिट्टी से जोड़े हुए हैं और ये जो लिख रहे हैं, वह उतना ही मन को छूता है जितनी कविता, व्यंग्य या कहानी। अब ललित निबंध गंगोत्री से उतरकर हरिद्वार तक आ गया है।

मेरा मानना है कि आज के निबंध में भाषा से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण दृष्टि है। दृष्टि विचार देगी, उन्हें आयाम देगी, विवश करेगी कुछ करने के लिए। धर्म और राजनीति से जुड़े पाखंडों ने जो भ्रम फैलाया, जो दिशाहीनता पैदा की, जिस कर्महीनता को जन्मा उसे यह दृष्टि समाप्त करेगी। यह दृष्टि मनुष्यता और नैसर्गिकता से सही अर्थों में परिचय कराने का कार्य करेगी।

मेरा यह भी मानना है कि ललित निबंध अभी बहुत लिखे जाने हैं और ये सभी अछूते संदर्भों पर लिखे जाने हैं। वह दिन अभी दूर है जब ललित निबंध के विषयों की पुनरावृत्ति होगी। मेरा विश्वास है कि प्रवाह और गतिशील होगा, इस नदी के पाट और विस्तीर्ण होंगे। अभी तो रेवा ने सिर्फ भेड़ाघाट पार किया है, दूर हैं ओंकारेश्वर, सहस्रधारा और वह विशाल सागर जिसमें उसे अपनी पूर्णता पानी है।

शायद लगे कि अपने पहले संग्रह में ही मैं बड़े आधिकारिक भाव से कुछ बड़े बोल बोल रहा होऊँ लेकिन वस्तुतः यह मेरी आत्मानुभूति है जो एक प्रसंग जन्मने के कारण छलक आई है। ये मेरे अपने स्वाभाविक विचार और विश्वास हैं, जिन्हें व्यक्त करना मैंने अपना दायित्व समझा है, एक रचनाकार के नाते, ललित निबंध के एक पाठक के नाते।

विगत लगभग बीस वर्षों से मैं लेखन और पाठन से जुड़ा हूँ। इतिहास, व्यंग्य और ललित निबंध मेरे प्रिय विषय रहे। परसाई सबसे प्रिय लेखक रहे जिन्होंने बेहद आंदोलित किया। लेखन की निरंतरता में 12–13 वर्षो का लम्बा अंतराल रहा। इस बीच कुछ पढ़ा, कुछ संग्रहीत किया। मध्यकालीन लघुचित्र विशेषकर राधा–कृष्ण के मोहक रूपायन मुझे बहुत आकृ ष्ट करते रहे हैं। ये रूपायन उन बहुतेरे अनाम चितेरों के नाम हैं जो राधा–माधव के चिरंतन और अलौकिक प्रणयभाव में डूबे, जिन्होंने रस और राग को रंग दे दिए और अनुभूति को आकार। ये लघुचित्र इस मायने में भी अनोखे हैं क्योंकि ये अपने युगीन संदर्भों और परिवेश को चित्रित करते हैं।

इस संग्रह के प्रकाशन की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ है। मेरे परिवार के लोग, मित्रगण और बहुत सारे ऐसे भी जिन्होंने पूरे निश्छल भाव से मुझे अगाध स्नेह दिया और सदैव लिखने के लिए प्रेरित करते रहे। इन सभी ने मेरे मानस प्रकोष्ठ को अपनी प्रेरणा से दीप्त किया और इन्हीं दीप पुरुषों के आशीर्वाद का परिणाम है, यह जुगनू की भोर।

मेरी लेखन–यात्रा के साक्षी पुरुष और प्रेणेता हैं, हिंदी के सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री माणिक वर्मा जिन्होंने मुझे समझाया कि साहित्य का मर्म क्या होता है और अपने खुद के उदाहरण से यह सिद्ध भी किया कि संघर्ष क्या है ?

भाई यशवंत व्यास और अनुज निर्मल के निरंतर पीछे पड़े रहने का ही परिणाम है कि दुबारा लिखना शुरू हो पाया। विक्रयकर जैसे भिन्न प्रकृति के विभाग में भी गुरुवर पंत साहब और एस.के. शर्मा जैसे शालीन और नेह से भरपूर व्यक्ति मिले जो मेरे लेखन को प्रोत्साहित करते रहे। भोपाल में आदरणीय ओमप्रकाशजी मेहरा, मदनमोहनजी जोशी और अग्रज संतोष तिवारीजी ने भरपूर उत्साह बढ़ाया।

खंडवा में दादा रामनारायणजी व श्रीकांतजी व चंद्रसेनजी विराट से लेकर भाई प्रतापराव क़दम और परिहार जैसे साहित्यिक व्यक्तित्व मिले जिनके निरंतर दबाव ने इस संग्रह के प्रकाशन को अपरिहार्य बना दिया। जय नागड़ा जैसे युवा और प्रतिभाशाली मित्रों ने निरंतर आग्रह किया। एक लम्बा सिलसिला है ऐसे प्रेरक नामों का, उनका आभार मानने की औपचारिकता निभाकर मैं शायद उनके स्नेह की स्निग्धता ही कम करूँगा।

श्रद्धेय विद्यानिवासजी मिश्र ने सारे निबंध पढ़े और भूमिका लिखी, यह उनका आशीर्वाद है, जो मेरी अमूल्य धरोहर है, उसका शब्दों में क्या आकलन करूँ। शब्दों में यदि वैराट्य की सम्पूर्ण व्यंजना समा पाती तो यह शायद सम्भव था लेकिन मेरे पास तो उन जैसे मनस्वी के लिए शब्द ही नहीं हैं।

बड़े स्नेह के साथ फ्लैप सामग्री आदरणीय दादा ने लिखी, मैं उनका आभार मानने की क्या धृष्टता करूँ। वे जितने बड़े हैं, उतने ही सहज। मेरा सौभाग्य है कि मैं उनका स्नेहभाजन बना।

भाई सुखलाल पटेल का किन शब्दों में आभार मानूँ। यह पुस्तक इस स्वरूप में केवल उन्हीं के प्रयासों के कारण आ पाई। ज्ञान साहित्य घर के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता। मेरे कार्यालय के श्री अशोक शर्मा, सदाशिव शर्मा, बी. के. वर्मा, के.सी. उपाध्याय और एस.एन. श्रोत्रिय ने पूरे मन से मदद की इस संग्रह को तैयार करने में, मैं कृतज्ञ हूँ उनके प्रति।

बहरहाल यह कृति आपके हाथों में है, इसे मेरे अर्घ्य समझ लें या मेरी अनुभूतियों के वे आचमन जिन्हें मेरे मन ने ग्रहण किया और वे ही अक्षरों के अर्घ्य के रूप में मेरी अंजुरी से आपको अर्पित हो रहे हैं।

खंडवा **नर्मदाप्रसाद उपाध्याय**

अनुक्रमणिका

1. फिर फूले पलाश तुम
2. बंधन वसंत के
3. गुलमोहर गर्मियों के
4. पावस को अर्पित अर्ध्य
5. एक बोधयात्रा, शरद को लेकर
6. जाड़े की धूप में हिमालय हथेली पर
7. एक भो जुगनू की
8. फिर पत्थरों के गाँव
9. मेरे अधूरे बाज़ार पर
10. राजधानी में लोकधानी तलाशते हुए
11. शिखर से बोलते हुए
12. सलाम, भोपाल की शाम
13. कुम्भ का मेला, मैं भीड़ में अकेला
14. हीरों के मन जैसे देश को
15. कोसना बंद : कोसना शुरू
16. रास्ते, मंज़िल, आईने और खुद
17. बीते बरस, आए बरस
18. मौसम तुम समा जाओ मुझमें
19. यह क्या हुआ हिमालय को ?
20. कृपया मौन हों भविष्यवक़्ता
21. फूल, चिंगारी और सच

फिर फूले पलाश तुम

पलाश तुम फिर फूल उठे। डालियाँ ढक गईं, झुक गईं चारों तरफ। तुमने अपनी केशरिया आभा बिखेर दी, उत्सव मनन लगे तुम्हें खिलते देखकर। तुम फूले हो और सब वसंत के रंग में डूबे हुए हैं। तुम फूले हो और प्रकृति केशर से नहा उठी है। तुम फूले हो और बाँसुरी बज उठी मन की। तुम फूले और तुम्हें देखकर नवोढ़ा लजा गई, उसके कपोल भी तुम्हारी पाँखुरियों की तरह आरक्त हो उठे। तुम्हारे फूलते ही रस, रंग और गंध का सैलाब उमड़ पड़ता है। तुम ऋतुराज के राजा हो।

तुम्हें अच्छी तरह याद होगा, सदियों पहले एक चंचल नवयौवना ने तुम्हें ब्रज के आसपास फैले वन की पगडंडियों से बीना था और तुम्हें कालिंदी के पानी में भिगोकर, उस केशरिया जल से एक साँवरे को सिर से पाँव तक नहला दिया था। उस सलोने युवक ने भी यही किया और दोनों पलाशमय हो गए। यह घटना तो तुम्हें ज़रूर याद होगी। क्योंकि तुम उसी पल से तो पलाश हुए, वरना उसके पहले तुम इसी पल की तलाश में भटका करते थे। फूलकर, झर जाया करते थे। समय यों ही फिसल जाया करता था। राधा ने तुम्हारे फिसलते पलों को अपनी पलकों पर रोक कर तुम्हें पलाश बना दिया। तुम चिर ऋणी हो राधा की दृष्टि के। यदि वह तुम पर नहीं पड़ती तो तुम अचीन्हे ही रह जाते। राधा तुम्हारी अस्मिता की पहचान है।

तुममें न तो गंध है, न रूप फिर भी तुम वसंत के नायक पुष्प हो। जानते हो क्यों ? इसलिए कि तुम्हारा रंग वासंती है और तुम्हारे पोर–पोर से केशर की पीताभ आभा झाँकती है। तुम्हें भले भँवरे न घेरे रहें, लेकिन उनकी गुंजार का सार तो तुम्हारे वासंती वैभव में समाया रहता है। इसीलिए तुम वसंत के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीक और प्रतिमान हो।

तुम हो भी बड़े उदारमना। उन पगडंडियों पर बिछ जाते हो, जो तुम्हारे पेड़ के नीचे से गुज़रती हैं, तुम उन पुष्पों में से नहीं हो, जो सूखकर डालियों पर ही झर जाते हैं या जिनकी पाँखुरियाँ हवा में सूखकर इधर–ऊधर कहाँ उड़ जाती हैं पता ही नहीं लगता। तुम्हारे पल्लवित रहने और सूख जाने में कहीं अंतर नहीं जान पड़ता। यही तो मौलिक गुण है तुम्हारी प्रतिष्ठा का। तुम फूले भी वसंत के लिए, और सूखे भी वसंत के लिए। अवसरवादी नहीं बने। तुम्हारे इसी समर्पण ने तुम्हें वसंत की आत्मा बना दिया। तुम्हारा वसंत के प्रति यह मौन समर्पण ही तो तुम्हें ऋतुराज के प्राणों के रूप में प्रतिष्ठित कर गया।

तुमको लेकर जाने कितनी कविताएँ रची गई होंगी, गीत लिखे गए होंगे, जाने कितने मधुर कंठों ने उन्हें गाया होगा, मगर अपने इस प्रशस्ति गान से तुम आज तक अप्रभावित ही रहे। कई फूल ऐसे होते हैं, जिन्हें प्रशस्ति गान सुनने की आदत हो जाती है। वे बिना प्रशस्ति के कुम्हला जाते हैं, मुरझा जाते हैं, लेकिन तुमने प्रशस्ति को कभी प्रतिष्ठा ही नहीं दी। शायद उसका यह कारण है कि तुम आभिजात्य पुष्प नहीं हो। तुम जंगल के फूल हो, बिना किसी के उगाए तुम्हारा पेड़ उग आता है और बिना किसी प्रयास या मान–मनौव्वल के तुम खिल जाते

हो। तुम्हें न तो उपवन चाहिए न माली। तुम्हें अपनी अस्मिता की पहचान बनाने के लिए किसी प्रदर्शनी की भी ज़रूरत नहीं, इसलिए तुम ज़मीन से उगे, उसकी मिट्टी में रचे–बसे नैसर्गिक फूल हो।

जो फूल गमलों में सजे रहकर प्रदर्शनियों में इतराया करते हैं, वे खत्म हो जाते हैं किसी तुकबंदी की तरह। मगर तुम तो वसंत की रामायण हो, जिसे सदियों से गाँवों की चौपाल–चौपाल पर गाया जा रहा है।

ज़्यादातर फूल, सौरभ से सरोबार होते हैं, जिनमें गंध नहीं होती। उनमें रूप होता है, लेकिन तुममें न तो गंध है न रूप, सिर्फ अपने आत्मसम्मान के ओज की आभा है। मगर एक बात जो किसी दूसरे फूल में नहीं, वह तुममें है। तुम सूखने के बाद और जीवंत हो जाते हो। तुम्हारी पाँखुरी–पाँखुरी से केशरिया रंग झरता है। असंख्य होलियाँ और रंगपंचमियाँ तुम्हारे नाम हैं। ब्रज की वीथियाँ सदियों से तुम्हारे अमिट रंग की साक्षी हैं। अपने अस्तित्व को मिटाकर दुनिया को केशरिया रंग से रँग देने वाले तुम्हारे अनूठे व्यक्तित्व ने तुम्हें सदैव के लिए अमर कर दिया। तुम्हारे रंग से होली का ऐसा अनोखा त्योहार मनाया जाता है, जो छोटे–बड़े, अमीर–गरीब, ऊँच और नीच के सारे भेद मिटा देता है। इस दिन नेह की स्निग्धता में सारी मलिनता बह जाती है। तुम्हारे रंग में सरोबार होकर भले कुछ पलों के लिए ही सही लोग सारी है कटुता, सारा वैषम्य, सारा द्वेष भुला बैठते हैं। ऐसा रंग किसी दूसरे फूल में नहीं होता। तुम्हारे इसी रंग ने तुम्हें अमर पहचान दे दी और तुम प्रीति के प्रतिनिधि पुष्प बन गए।

मैं बचपन से तुम्हें वसंत में देखता आ रहा हूँ। तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं बदली। तुम वैसे ही हो आज भी; जैसे बरसों पहले थे, वरना बचपन से आज तक मैंने बहुत बदलाव देखे हैं। मैंने गुलाबों तक को अपना रंग बदलते देखा है। जैसे–जैसे वक़्त आगे बढ़ता गया, फूलों के रंग और आकार बदले।

हो सकता है कि यदि तुम भी अपना रंग बदल लेते तो उपवनों की शोभा बन जाते, सिर्फ वसंत में फूलने की बजाय बारहों माह फूलते; हो सकता था कि तुममें गंध भी आ जाती, लेकिन सच यह भी है कि फिर तुम्हारा नाता न तो ब्रज की वीथियों से रहता न वृषभानुसुता राधा से। फिर तुम्हारे नाम न कोई होली रहती, न वसंत पंचमी। तुम्हारा रंग भी भले केशरिया होता, मगर वह चढ़ता नहीं किसी पर। तुम्हारी पाँखुरियों की कोई पूछ नहीं होती। उपवनों में फूलते और झर जाते, इससे ज़्यादा कोई उपलब्धि नहीं होती। उपवनों में फूलने वालों को वास्तव में कुछ हासिल नहीं होता, बल्कि खो ज़्यादा जाता है। जंगलों के फूल भले अचीन्हें रहें, लेकिन वे कुछ खोते नहीं। उनकी पहचान बरकरार रही है। तुमने भले कुछ न पाया हो, मगर अपनी पहचान बनाए रखी है और इसी पहचान के कारण न तुमसे ब्रज छूटा न वृषभानुसुता।

तुम यदि अतीत के इस मधुर रिश्ते से अपने आपको काट लेते तो फिर न तो तुम्हें वर्तमान पूछता, न भविष्य। आज तुम अतीत की धरोहर, वर्तमान की पूजा और भविष्य की श्रद्धा के रूप में मनमानस में समाए तो हो।

वसंत में आम के बौर भी आ जाते हैं। आम्र मंजरियाँ जब आम के वृक्षों पर खिल उठती हैं, तब वसंत की शोभा दोगुनी हो उठती है। तुम्हारे पुष्प और आम की मंजरियों से ढकी पगडंडियों पर विचरण करना एक अद्‌भुत सुख से आत्मसात करना होता है। आम्र मंजरियाँ और तुम दोनों ही प्रहरी हो वसंत के, मगर तुम दोनों में फर्क़ भी है। आम्र की मंजरियाँ तो बाद में हरी कैरियों में, कच्चे आमों में बदल जाती हैं, लेकिन तुम तो अपना सर्वस्व ही वसंत पर न्यौछावर कर देते हो। तुम्हारी हर पाँखुरी सिर्फ वसंत के लिए ही खिलती और वसंत के लिए ही झर जाया करती है। तुमने वसंत के साथ अपने आपको इतना आत्मसात कर लिया कि कहीं कोई भिन्नता नहीं रही। तुम्हीं वसंत के अर्घ्य बन गए और तुम्हीं आचमन।

इस विषमता भरे, वैषम्य से भरपूर संसार में जब अपने इस समर्पण भाव से तुम्हें खिला देखता हूँ तो मन प्रणामों से भर उठता है। कितना मुखर है तुम्हारा मौन। यदि कोई तुम्हारे इस प्रेरणा भरे वैविध्य के सच्चे अर्थों में दर्शन करे तो वह धन्य हो उठे। इस विचित्र संसार में यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि हम प्रेरणा के लिए या तो देवताओं की ओर देखते हैं या उन मनुष्यों की ओर, जिन्हें हमने देवता बना दिया। प्रेरणा के सच्चे स्रोत तो तुम्हारे जैसे गंधहीन, वनों और प्रांतरों में खिलने वाले वे फूल हैं, जिनकी कोई अपेक्षा नहीं होती, लेकिन जो अपनी समूची अस्मिता में प्रेरणा के पुंज होते हैं। मैं तो उस समय की राह देख रहा हूँ, जो तुम्हें पहचानेगा और तुम्हें तुम्हारे गुणों के अनुरूप सच्ची प्रतिष्ठा देगा।

इसलिए पलाश तुम फूलते रहो, जैसे इस बार फिर फूले, वैसे ही तुम सदैव फूलते रहना। मैं देख रहा हूँ आने वाली पीढ़ियों को, जिनके हाथ नमन की मुद्रा में जुड़े तुम्हारे कुसुमित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जो पीढ़ियाँ आने वाली हैं, वे वसंत को सच्चे अर्थों में पहचानेंगी, तुम्हें अपनी पूरी समग्रता में अंगीकार करेंगी। इसलिए तुम फूलना और फिर फूलते ही रहना पलाश।

बंधन वसंत के

चमेली का चमकना, भौरों की आम्रकुंजों में मंजरियों का महकना, पलाश का फूलना, गुंजार का सुनाई देना, कोयल की कूक से भोर की उजास का गूँजना, ये सब वसंत के आगमन की आहटें हैं। इन्हीं आहटों के बीच अपने अधरों पर पराग की लाली लगाए मदमाता वसंत आता है और उल्लास के अथाह मधुसागर में प्रकृति डूब जाती है।

मनुष्य के त्योहार यदि दीपावली, बारावफ़ात या क्रिसमस हैं तो प्रकृति का इकलौता त्योहार वसंत है।

वसंत मनाते–मनाते प्रकृति मद में अपनी सारी शोभा हमारे सामने निरावृत्त कर देती है। पाँखुरी–पाँखुरी और मंजरी – मंजरी उसका वसंत बौराया–सा डोलता फिरता है।

इस वसंत में भी गंध की डोली में सौंदर्य की नववधू केशरिया चूनर ओढ़े बैठी है और हौले–हौले डगमगाते क़दमों से इस डोली को उठाए दिनों के कहार उसे गाँव–गाँव, खेत–खेत, आँगन–आँगन और गली–गली ले जा रहे हैं।

सुंदरता वसंत के कृष्ण की ब्याहता रुक्मणी है और सुगंध उसकी अनुपम प्रेयसी राधा। प्रेयसी, अपने प्रेमी की ब्याहता की डोली की तरह होती है। इस प्रेयसी के नेह की गोद में बैठे बिना ब्याहता का अपने प्रेमी के प्रति अनुराग अधूरा रहता है। इसलिए सुगंध की राधा के नेह की डोली में बैठी सौंदर्य की रुक्मणी गाँव, गाँव, गली–गली डोल रही है और दिनों के कहार वसंत को समर्पित नेह के इन दोनों प्रतीकों को धरा की रज–रज से परिचित करा रहे हैं।

सब के सब मगन हैं, वन, उपवन और गगन। मद के सागर में माधुर्य आकंठ डूबा है, उसकी बाँहों में शोभा नहीं समा पाती। केशर की नदी के तटबंध टूट गए हैं और एक सीमाहीन पीले आँचल में सब कुछ सिमट गया है। कहीं कोई वाद्य नहीं दीखता लेकिन संगीत फूट रहा है, कोई पायल कहीं नहीं दिख रही मगर झंकार गूंजती है, ताल, लय, स्वर सभी हैं किंतु सब अपने–अपने उफान पर हैं और सृष्टि इसी उफान में डूबी पूरे उल्लास के साथ झूमती अपना त्योहार मना रही है। राग और स्वर एकात्म हो गए हैं।

मनुष्य और प्रकृति के त्योहारों के मनाए जाने में यही मौलिक फ़र्क़ है कि मनुष्य के द्वारा मनाए जाने वाले त्योहार मनते दीखते हैं लेकिन प्रकृति अपने त्योहार बिना किसी दिखावे के मनाती है। उसका यह कतई आग्रह नहीं रहता कि कोई उसके त्योहार मनते देखे, कोई देखे कि उसके हर्ष की आतिशबाज़ियाँ कैसी हैं और कितना गुलाल फेंका जा रहा है।

यह इसलिए है कि प्रकृति ने अपने त्योहार मनाने के कभी कोई पैमाने नहीं बनाए। वह जब से अस्तित्व में आई तभी से वह बिना किसी आडम्बर के अपने त्योहार मनाने लगी। उसने अपने त्योहार के साथ न तो कोई जाति जोड़ी, न धर्म, न कोई सीमा बाँधी, न स्थान। इसलिए वह तो अभय होकर अपना त्योहार मनाती है और हम जिन्होंने अपने त्योहारों को धर्म, जाति और स्थान की सीमाओं में बाँध रखा है, हमेशा भयभीत रहते अपने त्योहार मनाते हैं।

त्योहार निर्विघ्न बीत जाए यही घटना हमारा त्योहार होती है। हम त्योहार मनाते डरते हैं क्योंकि हम प्रकृति की तरह मुक्त नहीं रह पाए और जब मुक्त ही नहीं हैं तो उन्मुक्त कहाँ हो पाएँगे ?

खुशी तो मुक्ति से उपजी उन्मुक्तता से जन्मती है। बंधनों के गर्भ से तो जड़ता से और पीड़ा ही जन्म लेगी तब इनके रहते हम त्योहार कैसे मनाएँ ?

वसंत ऋतु हमारे द्वारा मनाए जाने वाले कई त्योहारों की भी ऋतु है लेकिन इन त्योहारों का मनाना अब बड़ा औपचारिक हो गया। यह इतना औपचारिक है, कि इन्हें मनाते यदि हमारे कपड़ों पर सिलवटें भी पड़ जाएँ तो हमें अवसाद घेर लेता है, हम दुःखी हो जाते हैं।

त्योहार औपचारिक हो गए और औपचारिकता का निर्वाह त्योहार।

औपचारिकता के बंधन हमारा सब कुछ बाँध लेते हैं। शानदार सूट और टाई में हमारी चाल बँध जाती है, हैलो करते हाथ हमारे स्वाभाविक प्रणाम छीन लेते हैं, ओहदे का आभिजात्य और अहं हमारी नैसर्गिक विम्रता का गला घोंट देता है।

औपचारिकता हमें बहुत हद तक अस्वाभाविक और कृत्रिम बना देती है।

इसलिए वसंत में, मैं जब प्रकृति को निहारता हूँ तो विभोर हो जाता हूँ लेकिन जब वसंत की खिली सुबह में किसी आदमी को देखता हूँ तो लगता है उसकी देह पर इन बंधनों के कसाव से पड़े सैकड़ों निशान हैं, और वह इन निशानों को अपनी उपलब्धियों के रूप में सँजोए खड़ा है। अपने दर्द की दीप्ति में वह इन ज़ख्मों में जगमगाहट ढूँढ़ता है। उसकी सारी सम्वेदना इन्हीं बंधनों को सहेजने में केंद्रित है। वह मुक्त होना ही नहीं चाहता। कोई पाश यदि छूट जाए या कोई बंधन यदि टूट जाए तो वह कोशिश करता है कि अपने हाथों से फिर अपनी देह को इन बंधनों में जकड़ ले।

उसने वसंत से रिश्ते तोड़कर उन्हें बंधनों से जोड़ लिया है।

अब बंधन ही उसकी पहचान हैं, वही उसके परिधान हैं। इन ऑल, प्रूफ परिधानों पर न तो कोई वसंत असर करता है, न कोई हेमंत, न कोई शरद और न कोई पावस।

शायद वे कोई दूसरे मनुष्य थे जो मौसम से अपनी अनुभूति जोड़ते थे। अनुप्रास में वसंत गाते पद्माकर आज कुतूहल का विषय हैं। पदमाकर ने वसंत गायाः,

द्वार में दिसान में दूनी देस देसन में
देखो दीप दीपन में, दीपत दिगंत हैं
बीथिन में, ब्रज में, नबेलिन में, बेलिन में
बनन में, बागन में, बगरों वसंत है

और इसी सदी में सारी विषमताओं के बीच, निरंतर कटुता के गरल को पीते हुए भी निराला ने वसंत के सौंदर्य को गाया,

पग–पग रँग गई, धन्य धरा

या,

देखा शारदानील वसंत
हैं सम्मुख सृष्टि रशना।

कवि ने शौर्य को भी वसंत में खोजा – "वीरों का कैसा हो वसंत"।

लेकिन आज के परिदृश्य में प्रकृति का ही वसंत दीखता है, आदमी में कहीं वसंत का उल्लास नहीं झाँकता, वह तो परागहीन पुष्प की तरह गिरने के इंतज़ार में समय के ढूँठ पर चिपका सा दीख पड़ता है।

आखिर क्यों है ऐसा ? ऐसा हुआ क्यों, कि हमने अपने आपको बंधनों से जोड़ लिया और सारे नाते वसंत से तोड़ लिये ?

शायद इसलिए कि वसंत को अपने उल्लास का भी त्याग करना पड़ता है। सृष्टि के संतुलन के लिए उसे अपने पराग की कीमत चुकाकर पतझर को भी आमंत्रित करना होता है। सौरभ से उसे बिछुड़ना पड़ता है, रुक्मणी और राधा के विरह की आग में उसे जलना भी पड़ता है। यह सब कुछ वह अपने लिए नहीं सारे जगत के लिए करता है।

यही फर्क़ हमारे में और वसंत में है। हम तो कुछ भी त्यागना नहीं चाहते। हम कभी बिछोह नहीं चाहते। हम हर बंधन की कीमत पर अपने आपको खुश रखना चाहते हैं। हम तो दूसरों के पतझर की कीमत पर भी अपने लिए वसंत चाहते हैं। इसलिए यह फर्क़ तो होना ही है।

लेकिन ऐसा होने में शायद हम यह नहीं जान पा रहे हैं कि अपने त्याग के कारण, अपनी नैसर्गिकता के कारण वसंत का यौवन तो चिरंतन है मगर हम अपने आप में जकड़े हुए अपनी सम्वेदनाओं को मार चुके और जाग्रत रहने का भ्रम पाले हुए ऐसी चिरनिद्रा की ओर जा रहे हैं जिसके उपचार की कोई संजीवनी नहीं।

हमारा वसंत कैसे लौट आए ? नेह के केशरिया निर्झर में हमारे मन नहाकर कैसे सुगंधित हो सकें ? पीली अमरबेल के पाशों से मुक्त होकर कैसे हम बौराए आम्रवनों की मंजरियों के बीच उन्मुक्त हो विचरण कर सकें ? कैसे उस मदिर गंध को अपने में समेटकर अपने आपको सार्थक कर लें ?

आज यही सब सोच रहे हैं। हर वसंत में यही सब सोचते हैं लेकिन मुक्ति के लिए सिर्फ प्रार्थना–भर करते रहने से फल सामने नहीं आते। मुक्ति बिना संघर्ष के नहीं मिलती और हमारी संघर्ष करने की शक्ति बंधनों को सहेजने में व्यय हो रही है, उन्हें तोड़ने में नहीं।

वसंत तो हर साल अपना मंडप सजाकर तोरणद्वार खड़े कर देता है और हमें आमंत्रित करता है कि हम इन तोरणों को मारकर अपनी मुक्ति की वधू ब्याह लाएँ लेकिन हम शक्ति नहीं जुटा पाते इन तोरणद्वारों को पार करने की और हर बरस मुक्ति की अनब्याही वधू सूने मंडप में वरमाला थामे खड़ी रह जाती है।

"जागो फिर एक बार" कहते–कहते कई निराला जैसे वसंत–पुत्र चुप हो जाते हैं लेकिन हमारी निद्रा नहीं टूटती। बोलने की मनुहार करते–करते, कुछ करने की गुहार लगाते–लगाते युगपुरुषों के कंठ सूख जाते हैं, उनकी वाणी मूक हो जाती है लेकिन हमारा मौन भंग नहीं होता। एक लीक जो तय कर ली उसे छोड़ने का खतरा कोई मोल नहीं लेना चाहता, छोड़ना सभी चाहते हैं। ऐसे में इस बँधी नियति को झेलने के लिए हम सभी अभिशप्त हैं।

इन सभी में मैं भी शामिल हूँ। इस वसंत में भी मैं एक नदी के घूमते भँवरों के बीचोंबीच खड़ा हूँ। इन भँवरों के बंधन में लिपटा मैं मुक्ति की प्रार्थना कर रहा हूँ और मेरे ऊपर उन्मुक्त गगन में गुंजार करते वसंत के भौरे मंडरा रहे हैं।

गुलमोहर गर्मियों के

बहुत तपन है। सारे पेड़ झुलस रहे हैं, पत्तियाँ मुरझा गईं, हरे–भरे तने ढूँठ में बदल गए लेकिन गुलमोहर चटख लाल रंग में खिल रहा है। इस वैशाख की अलाव–सी सुलगती दुपहरी में जब गुलमोहर के पेड़ पर नज़र पड़ती है तो जाने क्यों यह मुरझाया मन मुस्कराने लगता है। खिले गुलमोहर को देखकर लगता है कि हाँ अभी जीवन–शक्ति जीवित है, संघर्ष की तपन में खिलने की क्षमता जीवित है, एक दीपशिखा जीवित है बर्फ के घरौंदे में।

यों वसंत में तो हरिया जाते हैं सभी, खिल जाते हैं सभी मगर ग्रीष्म के आगमन के साथ सभी सूख जाते हैं, सिमट जाते हैं, मुरझा जाते हैं। मगर गुलमोहर गर्मी में खिलता है। गर्म लू के थपेड़े, सूरज का आक्रोश और इस आक्रोश से भयभीत अन्य फूलों की भीरुता उसकी जिजीविषा को नहीं डिगा पाती। वह अकेला खिलता है, उसका कोई साथ नहीं देता, न गुलाब, न चमेली, न जूही, न गेंदा मगर वह अपने संकल्प से डिगता नहीं। वह सूरजमुखी के फूल की तरह अवसरवादी भी नहीं कि सूरज की ओर अपना माथा नवाए सूरज की दिशा के साथ–साथ अपनी दिशा भी बदलता रहे। उसकी दिशाएँ उसके खुद अपने मन की होती हैं। गर्मी ज्यों–ज्यों बढ़ती है उसकी सुर्खी भी बढ़ती जाती है। जिन्हें हम लू के थपेड़े कहते हैं वे उसके लिए सुहावनी बयार के मृदु झोंके हैं, जिसे हम झुलसना समझते हैं वह उसके लिए मुस्कराना है।

गर्मी ने गुलमोहर की गंध छीन ली, उसकी पाँखुरियों की नमी छीन ली मगर उसकी दमकती कांति को नहीं छीन सकी। प्रतिशोध की आग चाहे जितनी प्रबल हो वह सब कुछ भस्म कर सकती है लेकिन दहकते अंगारे और राख तो फिर भी बने रहेंगे अपने अस्तित्व में।

दहकते सूरज के आक्रोश की यों खिल्ली उड़ाने वाला गुलमोहर मौन हो भले मगर उसका यह मौन बहुत मुखर होता है। बिना कंठ के उसका निनाद गूँजता है। गर्मियों में गुलमोहर को निहारते हुए निकल जाना कोई मायने नहीं रखता। उसके तले खड़े होकर उसके संघर्ष के सुरों को सुनना चाहिए। इन सुरों की गूँज हमारी मुरझाने की वृत्ति के बंधनों को काट देगी और हम जूझने के लिए कृत संकल्प हो उठेंगे।

आज कहाँ नहीं है आग, कहाँ नहीं है दहकते सूरज और कहाँ नहीं हैं लू के थपेड़े। हर जगह हैं, हर स्तर पर हैं, हर परिवेश में हैं। मगर गुलमोहर नहीं हैं हर जगह। इसलिए तपन हमें झुलसा जाती है। यदि हम अपने आप में वह संघर्ष क्षमता सँजो लें जो गुलमोहर ने सँजोई है तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब तपन अपनी निरर्थकता समझ ले। गुलमोहर की तरह बिना मुरझाए यदि हम अपनी कांति बरकरार रख सकें और जूझते रहें लू के थपेड़ों से तो बहुत मुमकिन है कि गर्मी हम पर हावी न हो।

मगर ऐसा होता नहीं। गर्मी के खत्म होते ही हम शीतलता की तलाश में निकल पड़ते हैं। कोई पहाड़ पर जाता है, कोई कश्मीर, जो जा नहीं पाते वे कूलर, एयरकंडीशन और तेज़

ठंडी हवा फेंकने वाले पंखों की तलाश करने लगते हैं। दोपहर आती है तो इन्हीं के आश्रयों में गर्मी से भयभीत हो दुबक जाते हैं। इसी पलायनवादी रवैये ने गर्मियों के हौंसले बढ़ा दिए और तपन हावी हो गई। इसके लिए हम खुद ज़िम्मेदार हैं। दोषी हम खुद हैं जो गर्मी के भय से दुबक जाते हैं, उसकी आँच से डरते हैं, ठंडक के कृत्रिम आश्रय खोजते हैं और पर्यावरण के असंतुलन का विश्लेषण करते हुए सूरज को दोषी ठहराने लगते हैं।

हमने वन काट दिए और पर्यावरण के विभाग खोल लिये, सूरज को खुद उकसा दिया और अपने लिए डी–लक्स ए.सी. रूम की व्यवस्था कर ली।

वैशाख या जेठ की तपती दोपहर में खेत जोतते किसान को सूरज से कोई शिकायत नहीं मगर ए.सी. रूम में बैठकर सूरज को कोसना हमारी आदत हो गई।

बड़ी मजेदार बात तो यह है कि पीढ़ी दर पीढ़ी किसान तो ज्यों का त्यों रहा मगर सूरज को कोसने वाले एयर कंडीशनर और कूलर के कारखाने खोल–खोलकर करोड़पति हो गए।

जैसे–जैसे गर्मी बढ़ती जाती है, उसे कोसने वाले बढ़ते हैं और इन कोसने वालों की सम्पन्नता बढ़ती है। एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है समाज में जो कोसने वालों का ही है। यह अकेला गर्मी को ही नहीं कोसता, ठंड और बरसात को भी कोसता है। यह वर्ग इन मौसमों की बुराइयों से जूझने के लिए लोगों को प्रेरित नहीं करता बल्कि बचाव के लिए रास्ते सुझाता है। इसलिए इन मौसमों के अभिमान कायम रहते हैं और बजाय जूझने के समाज दीन बना इन मौसमों की बुराइयों को झेलने के लिए विवश बना रहता है। इस कोसक वर्ग को 'जो वास्तव में शोषक वर्ग है', हर ऋतु सम्पन्न बनाती जाती है। एक गोपन समझौता है इस वर्ग और मौसमों के बीच।

एक नियति बन गई है और उस नियति को झेलना विवशता। विवशता के बंधन टूटते नहीं और ग्रीष्म का अत्याचार बढ़ता जाता है। पानी चाहे सरोवर का हो, ज़मीन के गर्भ का या सम्मान का, सूखता चला जाता है। धरती पर पड़ी दरारें गहराती जाती हैं, जंगल आग के हवाले होते रहते हैं, पहाड़ तपते रहते हैं और आदमी अंदर ही अंदर धधकता रहता है, सुलगता रहता है मगर इस नियति की विवशता को तोड़ने कोई आगे नहीं आता।

प्यास बहुत लगी है, वह बुझ ही नहीं पाती। कालिदास ने 'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म वर्णन में, मृगों की हालत का चित्र खींचते हुए लिखा था : "इस ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचंड धूप से अत्यंत तपाए गए मृग, जिनके तालू अति प्यास के कारण सूख गए हैं, एक वन से दूसरे वन में अंजन के समान नीले आसमान को जल समझ कर दौड़ रहे हैं।"

बहुत फर्क़ नहीं आया इस चित्रण में। कालिदास यदि आज होते तो उनकी इस कल्पना में 'मृग' का स्थान 'आदमी' ने ले लिया होता। गरमी में नीला आसमान ही जल जैसा दीखता है और हर आदमी दौड़ रहा है इस छलावे भरे पानी को पाने के लिए।

गर्मी से उपजी प्यास तो बुझ सकती है मगर तृष्णा से उपजी प्यास इतना विकल बना देती है कि आदमी नीले आसमान को भी सरोवर समझ बैठता है। न प्यास बुझ पाती है, न सरोवर मिल पाते हैं और यह दौड़ निरंतर और अविराम चलती रहती है। यह सारे विश्लेषण अनंत हैं। सच सिर्फ यही है कि ग्रीष्म, ग्रीष्म है और हमारे विश्लेषण हमारे विश्लेषण।

मगर सच यह भी है कि अगर हम मानव हैं तो हमें विश्लेषण भी स्वीकारने नहीं हैं, सिर्फ यदि विवशता ही स्वीकार ली तो फिर मानवता और पशुता में क्या भेद ?

विवशता को अस्वीकार कर देना, हमारी पहली सफलता होगी। सूखी पाँखुरियों वाले लेकिन लू के थपेड़ों के बीच अपनी मस्ती में डोलते गुलमोहर से यदि एक ही सीख ले ली जाए तो बदलाव के लिए किसी वाद या दर्शन की शरण में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

ज़रा गुलमोहर की तरफ ताकने की बजाय गुलमोहर बनकर तो देखें।

पावस को अर्पित अर्घ्य

मानसून आ चुका मगर बड़े हौले से आया है। उसके आगमन का संकेत हल्की बारिश से ही हो पाया। बादल नहीं गरजे, बिजली नहीं तड़की, झड़ी नहीं लगी। बस मेघ आसमान में छा गए और फुहारों से धरती भींगती रही।

कहा गया कि यह कमज़ोर पावस की निशानी है। कहने को तो बहुत कुछ कहा जा सकता है मगर सच तो वही है जो हो जाए। हम कहने में ही मारे गए फिर वह चाहे देश हो या मानसून। ऊँचे दर्जे के भविष्यवक़्ताओं और भाग्यविधाताओं ने कहा, कहते रहे और कह रहे हैं लेकिन होने के नाम पर जो हो सकता था वह भी नहीं हो पाया।

कहने ने करने को निगल लिया। करों में लग सकने वाली ऊर्जा कंठों में व्यय हो गई तो फिर होता क्या ? इस मायने में भारत कृषि प्रधान देश नहीं, कंठ प्रधान देश है। कंठ यदि खुद कहते कि हम प्रधान हैं तो उन पर उँगलियाँ उठतीं इसलिए कंठों ने देश को कृषि प्रधान घोषित किया और आज कृषि की प्रधानता कंठों में बसी है।

सवाल यह है कि आखिर कंठों ने कृषि को ही क्यों चुना ? इस लम्बे–चौड़े देश में बहुत कुछ चुनने को था तो फिर कृषि ने ही क्यों मोह लिया कंठों को ?

इसलिए कि कृषि में वह सब कुछ है जिसे बोलकर भुनाया जा सकता है। कृषि अन्न उपजाती है। साहित्य रचने के लिए हरियाली जन्मती है। देश के ज़्यादातर अनपढ़ लोग इससे जुड़े हैं जो लोग नहीं लोकमत कहलाते हैं और हर पाँचवें बरस मतपत्र में बदल जाते हैं। यह ऐसा उद्यम है जिसे वे लोग करते हैं जिन्हें बोलना नहीं आता सिर्फ करना आता है। इस उद्यम पर मौसम भी अपनी झुंझलाहट बगैर किसी प्रतिकार के उतार लेते हैं। यह ऐसी निरापद और अबोल अबला है जिस पर किए जाने वाले अत्याचार की कोई गवाही नहीं होती। अपराध हो जाता है मगर कोई अपराधी सिद्ध नहीं हो पाता। जब इतनी सुविधाजनक चीज़ मौजूद है ग्रामवासिनी भारत माँ के आँचल में तो फिर कंठ कोई दूसरी चीज़ चुनते क्यों ?

इसीलिए प्रधानता के नाम पर कृषि को ही चुना गया क्योंकि औरों की अपेक्षा यह ऐसी मूक कठपुतली है जिसकी वाणी औरों के कंठों में क़ैद है।

इस बार हल्का मानसून आया तो कंठों से वाणी के झरने फूट पड़े। हिदायतें बहने लगीं। इस वाणी की नदी के पूर में अभी से लहरें उठनी शुरू हो गईं जिनका में शोर यह कह रहा है कि इस बरस यदि अन्न कम उपजा तो इसकी ज़िम्मेदारी मानसून पर होगी। बारिश की शुरुआत में ही कृषि को कंठों ने भुना लिया और अपनी ज़िम्मेदारी से बरी हो गए।

लेकिन खेत की मेढ़ पर बैठा किसान तो बोवनी कर चुका। वह तो बड़ा आशान्वित है। वह बोलता नहीं बस आसमान की तरफ ताकता है। आज नहीं तो कल पानी फिर बरसेगा। उसके इस मूक और भोले विश्वास पर कृषि जीवित है। अन्न के भंडारों का भविष्य झाँकता है इसके इस विश्वास की आँखों में ?

मानसून हल्का हो या भारी उसके श्रम की आस्था डिगती नहीं।

उसकी आस्था जितनी बरसात से जुड़ी है उतनी ठंड या गरमी से नहीं जुड़ी हमारी बात ज़रूर अलग है। बारिश हमारे लिए महज़ एक ऐसा मौसम है जिसमें गरम मँगोड़ों का लुत्फ उठाते हुए बाढ़ में डूबने वालों की गिनती लगाई जाए; बरसातियों, छातों और भीगे शरीरों की किस्मों का चुस्कियों के बीच ज़िक्र किया जाए और यदि चिंतित ही हों तो इस बात पर कि इस बारिश में तालाब का जल स्तर कितना उठ पाएगा या कितने सेंटीमीटर बारिश और ज़रूरी है, औसत को पूरा करने में।

हमारे शहरी चिंतन के इन्हीं दायरों में वर्षा मापक यंत्र के आसपास हमारी मानसूनी अनुभूतियाँ सिमट जाती हैं।

मगर एक देहाती किसान की चिंताएँ बिलकुल अलग तरह की होती हैं। बोवनी कर देने के बाद हर पल उसकी निगाह इंद्र के तेवरों पर होती है। पानी क बरसे, खाद कब दे, बखरनी कब करे, कोल्पा कब फेरा जाए यही उसके चिंतन के विषय होते हैं। जब बिना बरसे लेकिन आसमान को ढाँपे बादलों को देखकर इंपोर्टेड पेन से आंचलिक कविताएँ लिखी जाती हैं तब किसान सबसे ज़्यादा चिंतित रहता है। लगातार बरसते पानी में जब बंद कार में बैठे हम बच्चों के साथ बाढ़ का मनोहारी दृश्य देखने निकलते हैं तब किसान अपने टपकते टपरे में बैठा–बैठा इस झड़ी को कोसता है।

जो मौसम हमें सुहावना लगता है वही उसके लिए बड़ा डरावना होता है।

इस कृषि प्रधान देश की यही सबसे बड़ी विडम्बना है कि यहाँ के किसान और मानसून दोनों मूक हैं और इनके इसी मौन का फायदा मुफ्त का श्रेय लूटने वाले वाचाल कंठ उठा ले जाते हैं।

बहरहाल मानसून का मौन फुहारों की शक्ल में बरस रहा है। अपने मौन रहने का कोई पश्चाताप नहीं किसान को। वह तो अपने खेत में अंकुरित होती हरियाली और हरी दूब चरकर तृप्त होते बैलों को निहार रहा है। गर्मी में सूख चुकी लेकिन इस मौसम में तटों को तोड़कर बहती नदी की मटमैली जलधारा को वह बड़े उल्लास से देख रहा है। उसे किसी निर्मल जल वाले सरोवर की तलाश नहीं। इसी मटमैले पानी में उसे अपने साकार होने वाले सपनों के प्रतिबिम्ब दिखते हैं। गाँव की डगर– डगर गीले कीचड़ से सराबोर है जिसमें गहरे तक उसकी पिंडलियाँ समा जाती हैं। रात में गरजते बादलों और तेज़ चलती हवाओं के बीच जब फूटी लालटेन में जलती लौ घरघराती है तब उसे किसी आने वाले अँधेरे का डर नहीं सताता, उल्टे उसके मन में आने वाले कई सूर्यों की रौशनी जगमगाने लगती है।

मेघ तो उसके राम जैसे आराध्य अतिथि हैं जिनकी वह हर दिन और हर रात बाट जोहता है। ये अतिथि यदि अपने साथ आँधी भी लाएँ तो उसका भी स्वागत उसे करना है।

बहुत कुछ तोड़ा हमने लेकिन इस देश के किसान ने अपनी अतिथि सत्कार की परम्परा नहीं तोड़ी। उसने इस परम्परा के निर्वाह में कोई शर्तें नहीं रखीं।

शर्तें हम रखने लगे। ठंडी फुहारों के साथ मेघ बरसें तो उनके स्वागत में काव्य रच दें मगर वे आँधी लेकर आएँ, बिजली लेकर आएँ तो उन्हें हमारे दरवाजे बंद मिलेंगे। इस तरह की विसंगतियाँ इतनी सामान्य हो गई हैं, कि हमें वे अब विसंगतियाँ ही मालूम नहीं होतीं।

हमारा आभिजात्य जितना निर्मम है किसान की सहजता उतनी ही निर्मल।

इस देश के सर्जकों ने बहुत कुछ लिखा बरसात पर और किसान पर। ऋतुसंहार और मेघदूत जैसे काव्य लिखे कालिदास ने। असंख्य गीत रचे गए पावस पर, सैकड़ों कहानियाँ लिख दी गईं किसान पर सौंदर्य, श्रम और दीनता की सारी व्यंजनाएँ, सारे प्रतीक उपयोग में ले लिये गए। आज भी ये दोनों ऐसे जीवंत जीव हैं साहित्य में कि कोई भी कलम अपनी नोंक पर इनका अपहरण कर लेती है। फिर, इनकी एवज में समाज से, सत्ता से पुरस्कारों की फिरौती माँगने लगती है। पावस और किसान से अच्छी कोई दूसरी 'पकड़' शायद ही साहित्य में हो। प्रकृति का सौंदर्य वर्णन वर्षा के बिना अधूरा है और कोई भी प्रगतिशील लेखन बगैर किसान की बैसाखी के आगे चलने को तैयार नहीं। ये दोनों हैं भी इतने सहज सुलभ कि इन्हें पकड़ने में कोई परेशानी नहीं। कालिदास ने भले पावस की अर्चना निर्मल और निस्संग भाव से की हो मगर आज के समकालीन साहित्य के कथित सर्जकों में से कुछ ऐसे भी मिलेंगे जिनके लिए पावस पुरस्कार या पीठ की प्राप्ति से ज़्यादा कुछ नहीं रहा। उनके लिए किसान की इससे ज़्यादा कुछ अहमियत नहीं रही कि वह उन्हें प्रगतिशीलता के परिधानों से सजाता भर रहे।

पावस और किसान तो वहीं बने रहे जहाँ वे आदिकाल से थे लेकिन पुरस्कार बढ़ गए, परिधान बढ़ गए। गेहूँ बेनाम गोदामों में चला गया और पानी बिकने लगा।

पानी बिकने की वजह से पावस की श्री चली गई। धरती का सार खो गया। मानवीय मूल्यों के प्रतिमान खंडित हो गए। इस पावस में यही सब कुछ सोचते–सोचते मैं पानी को बड़ी हसरत से बरसते देख रहा हूँ। काश इस पावस में बरसता पानी सहेज कर रखा जा सके। सरोवर भरे रहें। नदियाँ भरपूर रहें और हमारे चेहरों पर पानी का कांति बरकरार रहे। हमारे आत्मविश्वास को इस पानी की सख्त ज़रूरत है। हमारे अस्तित्व के लिए पानी बेहद ज़रूरी है। इतना ज़रूरी जितना कबीर को था और वे कहते थे "निसि दिन दमके दामिनी, मौजें दास कबीर"।

घटा घिर आई है। आसमान में वे आतुर हो रही हैं बरसने को और इस घटाओं से बरसने वाले जल बिंदुओं को समेटने मैं अँजुरी खोले खड़ा हूँ। मुझे कई अर्घ्य अर्पित करने हैं मूल्यों के देवता की मूरत पर। इस मूरत पर सदियों से जाने कितनी धूल चढ़ी है। यह धूल बह जाए और मेरे इस महान देवता की निर्मल मूरत फिर दमक उठे।

बरसो मेघ ! ज़ोर से बरसो, अँजुरी अभी भरी नहीं।

अर्घ्य अभी अधूरे हैं।

एक बोधयात्रा, शरद को लेकर

कालिदास ने 'ऋतुसंहार' में शरद के आगमन का बड़ा ललित रूप खींचा है। वे कहते हैं :

"काशांशुका विकचपद्दम मनोझबक्जा सोन्यादहंसरव नूपुरनादरम्या।
आपक्व शालिरुचि रानत गात्रायाष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिब रूपरम्या।।"

अर्थात

"फूले हुए काँस के वस्त्र धारण किए हुए, मतवाले हंसों की सुहावनी बोली के बिछुए पहने, पके हुए धान के मनोहर एवं नीचे झुके हुए शरीर धारण किए, खिले हुए कमल के समान सुंदर मुख वाली यह शरद ऋतु नई–नई ब्याही हुई सुंदरी वधू के समान अब आ गई है।"

मत्त हंसों की सुहावनी बोली के बिछुए पहनाकर कालिदास ने श्रव्य को दृश्य में बदल दिया है। कालिदास का काल ऐश्वर्य और समृद्धि का काल था। इसलिए कवि के मन की गगरी, से सदैव सौंदर्य का ही जल छलका करता था। वे सौंदर्य के सरोवर की अथाह जलराशि में आकंठ डूबे रह कुमुद से कांति तक अपने काव्य की माला में गूंथते रहे। उनकी सम्वेदना यक्ष की पीड़ा और उर्वशी की क्रीड़ा दोनों को सौंदर्य के परिधानों में लपेट गई।

हंस, कुमुद, कामिनी और चंद्रमा जैसे श्रृंगारिक प्रतीकों ने उन्हें बहुत बाँधा और वे लालित्य के पुरोहित कवि हो गए। पुरोहित यों कि बिना उनके सौंदर्य विधान को अपनाए लालित्य को पूजा ही नहीं जा सकता।

कालिदास की कल्पना कमाल की थी। शरद के चंद्रमा को उन्होंने राजहंस के रूप में देखा। उन्होंने लिखा :

"स्फुटकुमुद चितानां राजहंसा श्रितानां
मरकतमणिभासा वारिणा भूषिताम्।
श्रियमति रायरूपां व्योम तोयाशयानां
वहति विगतमेघं चन्द्रताराव कीर्णय।।"

अर्थात

"अतीव प्रसन्न चन्द्रमा और बिखरे हुए तारों से भरा हुआ आजकल का खुला आकाशमंडल उन सरोवरों के समान दिखाई पड़ता है जिनमें नीलम के समान चमकता हुआ निर्मल जल भरा हो तथा एक राजहंस के साथ यत्र यत्र बहुत से कुमुद खिल हुए हों।"

निस्संदेह कालिदास सौंदर्य के अप्रतिम गायक थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा ऋतुओं के अंक में समाए वैविध्य को भाषा देती थी। उनकी प्रखर सम्वेदना के हाथ हवाओं को छूकर उसे शब्दों में ढाल देते थे।

लेकिन सौंदर्य के सम्मोहन की यह परम्परा बढ़ते समय के पाँवों का साथ ज़्यादा देर तक नहीं निभा पाई। कालिदास के बाद वाले काल में ज्यों–ज्यों संदर्भ बदले, ऋतुओं के परिधान भी बदलते गए और आज तो किसी ऋतु की कोई पहचान ही नहीं रह गई।

अब तो चाहे शरद हो या ग्रीष्म, एक–सी ही लगती हैं। हर ऋतु एक ही तरह के सवालों के जवाब खोजती हैं। ये सवाल हैं ज़रूरतों के, रोज़मर्रा की मुसीबतों के और इन सारी विवशताओं के बीच कैसे जीते रहें इसके उपाय खोजने के।

बदले परिवेश ने सम्वेदनाएँ जड़ कर दीं, अनुभूतियाँ आत्मकेंद्रित हो गईं और भाषा ने तेवर बदल दिए। आज हरेक के पास हर ऋतु के लिए सवाल ही सवाल हैं।

हर ऋतु सवालों से बुनी कमीज़ पहने रहती है, जिसका एक ही रंग होता है और जिसमें दो–चार छोटे–छोटे जवाबों के बटन टँके होते हैं।

हेमंत और शरद ऋतुएँ नहीं रहीं, वे तो नाम हो गईं नवजातों के लिए ताकि पीढ़ियाँ कम से कम ये तो जान सकें कि इस शस्य श्यामला भूमि पर ऋतुएँ भी हुआ करती थीं।

शरद इस बार फिर आई है, इसका आभास मुझे उसकी मनभावन अदा से नहीं हुआ, ठंडी हवाओं, खिले फूलों, फैली हरियाली और मोहक सौरभ से नहीं हुआ, इसका आभास मुझे बच्चों के इस सवाल से हुआ "पापा क्या इस बार आप स्वेटर दिलवा देंगे, ठंड आने वाली है ?"

यह सवाल पिछले बरस भी किया गया था लेकिन बगैर स्वेटर लिये ठंड यूँ ही गुज़र गई थी। बच्चे अपनी आशाओं के मामले में बहुत आगे होते हैं। वे ठंड में पूरी हो सकने वाली आशा शरद में व्यक्त कर देते हैं। लेकिन मैं तो ऋतु को न बाल–मनोविज्ञान से समझ पाता हूँ न लक्षणों से। मैं तो हर ऋतु को माह के दिनों से मापता हूँ। महीने की पहली तारीख मेरा वसंत होती है और तीसवीं ग्रीष्म। इसलिए जब बच्चों ने यह सवाल किया तो "ऑफ सीज़न डिस्काउंट" का हिसाब लगाते–लगाते मैं लाला रामस्वरूप के कैलेंडर में खो गया और उस कैलेंडर पर अंकित तिथियों, तीज, त्योहारों की फेहरिस्त देखकर मुझे यह अहसास हुआ कि शरद का आगमन हो गया है।

शरद का सारा सौंदर्य–बोध मेरे लिए बच्चों की स्वेटर में सिमटकर रह गया है होता ऐसा ही है। ज्यों–ज्यों सवाल उठते जाते हैं, समस्याएँ ऊफान खाने लगती हैं। हमारे सारे बोध उन्हीं की गोद में चले जाते हैं।

जब ऐसे सवाल नहीं थे या उन्हें उठाए न जाने की सरकारी हिदायत नहीं थी तब शरद का चाँद राजहंस सा दीख पड़ता था और हंसों की सुहावनी बोली के बिछुए पहने शरद एक नववधू के पाँवों की–सी आहट से अपने आगमन का एहसास जगाती थी।

लेकिन सच तो हर युग में सच ही रहता है, सिर्फ दृष्टि बदलती जाती है, उसे देखने की। हम संदर्भों के बीच सच को देखते हैं इसलिए जो चाँद कालिदास को राजहंस–सा दीख पड़ा, उसी चाँद का मुँह मुक्तिबोध को टेढ़ा नज़र आया। किसी शायर को उसकी शक्ल रोटी जैसी दीख पड़ी तो वैज्ञानिक दृष्टि ने उसे पथरीली और बंजर ज़मीन के गोलाकार दायरे के रूप में देखा।

यह सच की विविधता नहीं, दृष्टि की विविधता है या यों कहें कि यह दृष्टि की विवशता है। संदर्भों से काटकर अलग–थलग किसी सच को व्याख्यायित कर पाना असंभव है।

मैं जब शरद के पूरे खिले चाँद को देखता हूँ तो लगता है जैसे किसी दूर से आती ट्रेन के डीज़ल इंजन की हेडलाइट पूरी तीव्रता से प्रकाश फेंकती धीरे–धीरे रेंग रही हो। इस हौले–हौले रेंगते चाँद के पीछे मुझे ट्रेन के ऐसे डिब्बे दीख पड़ते हैं जिनमें बैठे मुसाफिरों को शायद यह मालूम न हो कि वे जा कहाँ रहे हैं ?

कालिदास के राजहंसी चंद्रमा से मेरे हेडलाइटी चंद्रमा की बोध–यात्रा शरद के बदलते रूप को रेखांकित करती है। आज बहुत कठिन है हंस के रूप में चंद्रमा को देख पाना।

मुझे तो अपने बॉस की गुस्से में तनी तिरछी भृकुटियों की याद आ जाती है जब मैं चाँद का अर्द्धचंद्राकार रूप देखता हूँ। जब वह अधखिला दीख पड़ता है तो उसकी शक्ल अपनी रूठी हुई पत्नी के फूले हुए मुँह की तरह नज़र आती है जिसके लिए मैं हमेशा की तरह वायदा कर एम्पोरियम से डिस्काउंट सीज़न में एक हल्की–सी साड़ी नहीं ला पाया।

चंद्रमा को मैं शरद में कभी प्रेम से, रागात्मकता से या इन सबसे उपजी कविता से नहीं जोड़ पाया। चाँद जब भी इस सम्वेदना से जुड़ा उसने चाँद में बच्चों के स्वेटर या डिस्काउंट वाली साड़ी खोजी।

शरद को आँकते वक़्त बोध–यात्रा के ये पड़ाव बड़े चौंकाते हैं। हमारी विडम्बना यही है कि हम बस चौंकते हैं पल भर को और बाद में चंद्रमा में फिर स्वेटर और साड़ी तलाशने लगते हैं। यह चौंकना कभी चिल्लाहट में नहीं बदलता, चौंकने की यह क्रिया सिर्फ क्रिया बनी रहती है, इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

शरद की शीतल बयार से, महकते सौरभ से, मुग्ध करने वाली हरियाली से, खिले कमलों से, बहते निर्मल नीर से और चंद्रमा की कांति से कम से कम यह तो पूछा जाए कि भई जब तुम्हारे इस सारे लालित्य और सौंदर्य का हमारी अनुभूति पर कोई असर नहीं तो फिर तुम सब आखिर आ क्यों जाते हो, हर धूप के बाद ?

हम तो धूप के आदी हो गए। उसी में तपते हैं। यह तपन अब तो छाँव–सी लगती है। इसी तपन की ऊष्मा में हमारी ऊर्जा का पानी सूख जाता है। अब तो यह झुलसाता ग्रीष्म ही हमारी इकलौती ऋतु है। तब तुम इस बेचारी धूप और तपते सूरज के बीच क्यों आ जाते हो ?

हम जब शीतल चंद्रमा में भी वही जवाब ढूँढ़ते हैं जो तपते सूरज में तब हमें तुम्हारा यह व्यवधान बहुत खटकता है।

हमें या तो खड़े होकर, चौंकना छोड़कर ये सवाल शरद से पूछने चाहिए, उससे माकूल उत्तर लेने चाहिए, उसे बाध्य करना चाहिए कि वह अपने अस्तित्व के अनुकूल हमें शीतलता देगी, कांति देगी, सुगंध देगी, हरीतिमा देगी और वह सब कुछ देगी जो उसके आँचल में छुपा है, हमें देने के लिए या फिर दूसरा विकल्प यह है कि जैसे ही ग्रीष्म खत्म होने आए हमें तपते, आग बरसाते सूरज के पैर पकड़कर उससे प्रार्थना करनी चाहिए कि हे तापपुंज, तुम जाओ मत, अडिग खड़े रहो, अपनी जगह झुलसाते रहो हमें। हम वचन देते हैं कि हम कभी न तुमसे, न किसी और से तुम्हारी शिक़ायत करेंगे।

हे अग्निवर्षक सूरज, तुम्हारी धूप की छाँव में ही हम मौन भस्म हो जाएँगे लेकिन शरद का आने नहीं देंगे।

जाड़े की धूप में हिमालय हथेली पर

'धूप' शब्द इन दिनों बहुत सुहावना लगता है। गरमियों में जितना यह खटकता है, उतना ही दुलारा यह ठंड में लगता है।

सम्बोधन भी हमारी सम्वेदनाओं के स्वार्थ से जुड़े हैं।

सम्वेदना के स्तर पर जब विपुलता हावी होने लगती है तब उसे इस विपुलता से परहेज़ होने लगता है, और जब यही सम्वेदना उसकी कमी से त्रस्त होने लगती है तब बड़ी मृदुल हो जाती है उसके प्रति।

गरमियों में धूप की बहुतायत हमारी सम्वेदना को उससे दूर रहने को प्रेरित करती है लेकिन ठंड में यही धूप उसकी चहेती बन जाती है।

जाड़े की धूप ऐसी नवब्याहता नवेली है जो वसंत के बाद प्रौढ़ा हो जाएगी और मई तक आते–आते ऐसी वृद्धा जिसके लिए सिर्फ तिरस्कार ही उसके भाग्य की अंतिम परिणति होगा। वसंत के पलाश उसकी तरफ लाल आँखों से आग बरसाएँगे।

मगर धूप पर इन सबका कोई असर नहीं होता। उसे चाहे गुलदाउदी दुलारे या गुलमोहर तिरस्कृत करे, वह अपनी प्रकृति नहीं बदलेगी। वह न तो कभी अतीत में बदली है न भविष्य में बदलेगी। यह तो हम हैं जो उसे जाड़े में दुलारते और ग्रीष्म में धिक्कारते हैं। प्रकृति हमारी बदलती है, दृष्टिकोण हमारे बदलते हैं, अपने स्वार्थ की धुरी पर घूमते व्यवहार हमारे बदलते हैं लेकिन मैंने धूप और छाँव को कभी बदलते नहीं देखा। धूप की तासीर हमेशा गरम पाई और छाँह की शीतल।

धूप और छाँव की प्रकृति शाश्वत है। वे अडिग और निष्काम हैं अपने जन्म से ही, लेकिन हम हमारे जन्म से ही अस्थिर और स्वार्थी हैं। शायद 'दुनिया का चलन' इसी को कहते हैं क्योंकि यदि हमारी और धूप की प्रकृति एक–सी होती तो फिर चलने जैसी कोई बात ही नहीं थी। दोनों स्थिर होते।

'दुनिया का चलन' धूप या छाँह की देन नहीं, हमारी स्वार्थी प्रकृति और व्यवहार की देन है।

कहा जा सकता है कि यह बात 'जीवन विरोधी', प्राणविरोधी और गतिविरोधी कही जा रही है क्योंकि धूप में कोई स्पंदन नहीं होता, प्राण नहीं होते, सम्वेदनाएँ नहीं होतीं। धूप तो ताप की अनुभूति देने वाली सूरज की सिर्फ ऐसी कठपुतली है, जिसकी डोर सूरज के हाथ में है। वह चाहे जब डोर लम्बी कर उसे हमारे निकट कर दे और जब चाहे अपनी किरणों की डोर को सीमित कर धूप को दूर कर दे, हमसे या ओझल कर दे। लेकिन ऐसा है नहीं। धूप सूरज से बँधी भले हो पर वह उसकी गुलाम नहीं है। शाम को जब सूरज अस्ताचल के गर्भ में समा जाता है तब भी धूप के टुकड़े आकाश में तैरते रहते हैं या झील की नीली सतह पर

अठखेलियाँ करते हैं। वे तो रात में इसलिए अदृश्य हो जाते हैं क्योंकि चाँदनी धूप की चहेती बहन हैं और धूप उससे उसका हक़ नहीं छीनना चाहती।

रात में धूप न दीख पड़ना उसकी सूरज से बँधे रहने की विवशता नहीं है बल्कि उसका अपनी छोटी बहन के प्रति अनुराग भाव है।

'धूप' को यदि इस परिप्रेक्ष्य में हम देखें तो हम पाएँगे हम बहुत छोटे हैं उसके सामने। उसकी महानता का इससे बड़ा सबूत और क्या चाहिए कि जब वह साँझ को जाने लगती है तो हमारे क़द की परछाइयों को बहुत लम्बा बना देती है, हमारे अस्तित्व को वह आकार दे देती है, जिसका वह अधिकारी नहीं, स्वामी नहीं, हक़दार नहीं। मगर हम धूप को कोई श्रेय नहीं देते और परछाइयों के छद्‌म लम्बे आकारों के थोथे अहं में खुद को डुबो लेते हैं।

इस बिंदु पर धूप तो बहुत ऊँची उठ जाती है लेकिन हम डूब जाते हैं। 'धूप' से सीख लेकर यदि हम सिर्फ अपना धरातल भर खोज लें तो यह एक उपलब्धि होगी क्योंकि धूप के प्रति हमारे बदलते व्यवहार, वे भँवर हैं जो हमें सतह तक, तट तक, धरातल तक आने नहीं देते, उनमें फँसकर घूमते–घूमते हम सिर्फ डूब भर जाते हैं।

इस बार फिर जाड़े की धूप है। कड़कती ठंड में बड़ी आस से मैं सुबह आसमान की तरफ ताकता हूँ। शायद कुछ टुकड़े धूप के बरस जाएँ लेकिन बजाय किरणों के ओस की फुहार से भींगने लगता हूँ। तब गर्मी की धूप याद आती है और स्मृतियों की ऊष्मा से देह थोड़ी देर को गरम हो जाती है। मैं अपने आपको कोसता हूँ कि क्यों गर्मियों में धूप को कोसा जो वह रूठ गई। काश ! यदि गर्मियों में भी उसकी तपन को सहते मैं मुस्कराता रहता तो बहुत मुमकिन था कि वह इन जाड़ों में मुझे ठिठुराती नहीं। किंतु मैं अपना व्यवहार जानता हूँ। मैं जाड़ों में धूप की मनुहार करूँगा, शीतलता को कोसूँगा और गर्मियों में ठंडी ब्यार की बाट जोहते–जोहते धूप को गालियाँ दूंगा।

कुदरत ने इस देश को तीन मौसम दिए – ठंड, गरमी और बरसात। वह इस हिसाब से कि इस देश के आदमी की तासीर संतुलित रहेगी, स्थिर रहेगी, बहकेगी नहीं लेकिन हुआ यह कि हम अपनी तासीर भी मौसम देखकर बदलने लगे। नतीजा यह हुआ कि हम पर किसी मौसम का भरोसा ही नहीं रहा। इसलिए देश में मौसम तो समय पर आ जाते हैं पर वे हमें पराए लगते हैं और हम उन्हें।

मौसमों से हमारी आत्मीयता कब की टूट चुकी। जिस दिन से यह रिश्ता हमारा बहुत कुछ टूट गया, भंग हो गया, खंडित हो गया। मौसम हमारे मन जोड़ते थे। ये वे पुल थे जो बगैर किसी भाषा या धर्म की समझ के एक दूसरे के हृदयों के कोमल तंतुओं को जोड़ते थे, साँसों के साथ–साथ एक दूसरे की आशाओं को जोड़ते थे। इनका भरोसा बहुत बड़ा था। अच्छी बारिश होती थी तो हम कहते थे इस बार फिर पंजाब में रेकॉर्ड गेहूँ होगा और पंजाब से खबर आती थी कि वहाँ के लोग बहुत खुश हैं क्योंकि अच्छी बारिश की वजह से छत्तीसगढ़ का धान का कटोरा लबालब भर जाएगा, देश में गेहूँ भी बहुत होगा और चावल

भी। लेकिन आज जब पंजाब से बारिश में विस्फोटों की खबरें आती हैं तब मैंने देखा है बगैर बारिश के भी कई शहर, कई दिन और कई रात बेपनाह भींगते रहते हैं।

पानी सिर्फ मेघ नहीं बरसाते, हमारी आँखों में भी तो असंख्य इंद्र समाए हुए हैं। इसलिए बहुत महँगा पड़ा है मौक़ापरस्त बनना और इस तरह मौसम का भरोसा खो देना, उससे आत्मीयता खत्म कर लेना, बहुत कुछ तोड़ लेना, बहुत कुछ टूट जाना।

अब तो मौसम, एक शीशे की दीवार की तरह आता है। अचानक यह दीवार टूट जाती है फिर हम पर गिर पड़ती है। शरीर पर ज़ख्म बन जाते हैं, जिनसे लहू रिसने लगता है और जब तक हम इन ज़ख्मों को पोछें, दूसरी दीवार सामने से फिर आती दिखाई देती है।

इस जाड़े की धूप में, मैं टूटकर गिरते शीशों की झनझनाहट सुन रहा हूँ। ये टुकड़े बहुत चुभते हैं और जिस्म के रेशे को जितना ठंडी हवा नहीं कुरेदती, उससे ज़्यादा कहीं ये टुकड़े उसे कुरेद देते हैं। ठंड में आजकल ठिठुरन कम और छटपटाहट ज़्यादा होती है।

समाचारों के अंत में टेलीविजन वाले नाहक उपग्रह से भेजे गए चित्र दिखाकर, भ्रमित करते हुए मौसम की जानकारी देते हैं। मौसम की विस्तृत जानकारी तो समाचारों में पहले ही दे दी जाती है जिसके तहत पंजाब में कितने बेगुनाह और क़त्ल कर दिए गए या कितने लोग कहाँ साम्प्रदायिक दंगों में मारे गए, कहाँ कर्फ्यू लगा, कहाँ सेना बुलाई गई और कहाँ बम विस्फोट हुए, इन सबका खुलासा होता है।

ऐसा हर रोज़ होता है। कोई दिन ऐसा नहीं बीतता जब मौसम के इन हालातों में तब्दीली होती हो। इसलिए अब ऐसा भी होने लगा है कि हम बड़े निस्पृह भाव से पूरी तटस्थता के साथ ये खबरें सुन भी लेते हैं और इनकी तस्वीरें भी देख लेते हैं।

बर्फ का टुकड़ा यदि हथेली पर रख लिया जाए तो हथेली थोड़ी देर तक तो थरथराती रहती है फिर अभ्यस्त हो जाती है और बर्फ की ठंडक के अहसास दब जाते हैं।

मुझे लगता है, हमारी हथेलियों पर इन दिनों बर्फ के टुकड़े नहीं, हिमालय रखे हुए हैं।

इस तटस्थता को अपना लेना और अहसासों को खत्म कर लेना, अपने खुद के खत्म होने की मंज़िल का पहला पड़ाव है।

इससे बेहतर तो यह है कि हम मौसम के आघातों को पैदा होने से ही बचाएँ, उनसे फिर वही रिश्ते कायम करें, आत्मीयता के नेह के, मैत्री के। इन आघातों को झेलते—झेलते हममें से हरेक राणा सांगा—सा हो गया है, जिसकी देह पर जख्म हैं और जो आज भी रणभूमि में खड़ा है।

ये ज़ख्म स्वेटरों से, शालों से, कम्बलों से ढँक भले जाएँ लेकिन उनकी पीड़ा तो अपनी जगह बरक़रार रहेगी।

इस जाड़े की धूप में भी यही सब सोचते–सोचते मैं ठिठुर नहीं झुलस रहा हूँ। ताप से स्वार्थ के ताल्लुक न रखते हुए उसकी तासीर से स्थायी मैत्री कर लेना ही ज़्यादा अच्छा है। इससे जाड़ा और ग्रीष्म दोनों ही आगे चलकर सहयोगी बनेंगे।

धूप के तेवर यों तो तीखे होते हैं लेकिन यही तेवर हमारी कोशिशों से इंसानियत के जिस्म पर दमकने वाले ज़ेवर बन सकते हैं।

मैं कोई स्वर्णकार नहीं लेकिन इस जाड़े की धूप के सुनहरी रेशों को गूंथकर उनसे मैं एक दमकता हार ज़रूर बनाना चाहता हूँ।

मुझे विश्वास है, मेरा यह हार, शायद हमारी जीत का एक छोटा मगर मज़बूत रूपाकार बन सके।

एक भोर जुगनू की

मैं अक्सर देहली जाता हूँ। वहाँ से लौटते समय मथुरा के आगे एक स्टेशन पड़ता है 'रुनकता'। यह सूर का गाँव है। सूर यहीं जन्मे थे। सुपर फास्ट ट्रेन में बैठे–बैठे इस स्टेशन के नाम की तख्ती पलक झपकते गुज़र जाती है लेकिन मन वहीं अटक जाता है। विचार भटक जाते हैं।

कैसा चमत्कारिक होगा वह गाँव 'रुनकता' जहाँ ऐसा अंधत्व जन्मा जिसने आलोक को अमर कर दिया, जिसने तिमिर के आवरण में छुपे शब्दों को उजास के तारों में बींधकर, छंदों के अनेक सूरज उगाए और श्याम को ऐसा देखा एक बार कि हम सब आज उसी श्याम को सूर के पहनाए परिधानों में उन्हीं की आँखों से देख रहे हैं।

हमारी आँखें सूर की आँखें हो गई और उनमें बसे श्याम हमारे श्याम।

अंधत्व की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि वह सूर का पर्याय बन गया। कैसे हो सकते हैं वे लोचन दृष्टिहीन जिन्होंने साक्षात श्याम को इस मनमोहक रूप में देखा होगा।

खेलन हरि निकले ब्रज होरी,

कटि क़दनी, पिताम्बर ओढ़े हाथ लिए भौंरा चक डोरी,

मोर मुकुट कुंडल स्रवनन कर बर दसन दमक दामिनी छवि चोरी।

लेकिन यह विडम्बना आज अकेले सूर की कहाँ है ? हम सबकी है। जो हम हैं, उसके विलोम ही समझ लिये जाते हैं पर्याय नहीं। जो द्रष्टा हैं वे दृष्टिहीन हैं और जो अपना रास्ता नहीं टटोल पाते वे मार्गदर्शक।

हमारा इतिहास नियति की इन्हीं विडम्बनाओं का आईना है। इतिहास के दर्पण में कभी–कभी हमारे प्रतिबिम्ब वैसे ही झलकते हैं जैसे अक्षरों के, दर्पण के सामने कोई इबारत रख दो तो वह उल्टी ही दीखती है। उसे प्रतिबिम्ब में पढ़ पाना असम्भव सा होता है। इसलिए सूर ने चाहे जितना जीवंत लिखा हो माने गए वे अंधे ही और सूर अंधत्व का पर्याय बन गए। इसमें सूर का दोष नहीं। दोषी आँखें हैं और आलोक। आँखें उजाले से सिर्फ अपने स्वार्थ का सरोकार रखती हैं और आलोक अपने आपको अपराजेय मानता है।

लेकिन आलोक का यह दम्भ हमारे इतिहास के दो अपवाद चरित्रों ने तोड़ा है। ये हैं सूर और गांधारी। एक की आँखों ने उसे अंगीकार ही नहीं किया और दूसरे की आँखों ने किया सीधा अस्वीकार।

सूर और गांधारी प्रकाश की पराजय के नाम हैं।

सूरज के रथ का सारथी सूर के सामने असहाय है और उसके चक्र विजयी अश्व विवश।

सूर्य के आलोक का मोह सूर ने पाला ही नहीं, ऐसे मोह को त्याग देना उनके व्यक्तित्व के नहीं, चरित्र की ऊँचाई है ! इन ऊँचाइयों को मापने के पैमाने शायद अभी तक बन नहीं पाए। इसलिए हम अभी भी हर अंधे को सूरदास कहकर पुकारते हैं। शायद यह सूर का नहीं, हमारा अंधत्व है।

सवाल यह है कि इस आलोक का इतना आकर्षण क्यों है? क्या इसलिए कि इसकी उजास हमें सृष्टि का सौंदर्य दिखाती है ? शायद सूर को छोड़कर सभी ने यही जवाब दिया है।

लेकिन सूर ने तो सृष्टि को इतनी समग्रता और सूक्ष्मता में देखा है जिसके सामने सौंदर्य के सारे प्रतिमान बौने पड़ जाते हैं।

सही शायद यह है कि सूर्य के आलोक की निरंतरता, उसका तेज़, उसके रश्मि पुंज और उसका फैलाव हमें आकृष्ट करते हैं। आकर्षण की यही प्रबलता खींचती है मन को और मन इसकी दीप्ति से कभी तृप्त ही नहीं होता।

इस दीप्ति के कई नाम हैं। धन, यश, पद, महत्त्वाकांक्षा और लिप्साएँ कई तरह की।

हम इन्हीं दीप्तियों के बीच अपने जीवन की छटा खोकर विलीन हो जाते हैं। लेकिन दीप्ति के ये रूप कभी विलीन नहीं होते। इसका रूपजाल अटूट होता है और बंधन कठोर। पीढ़ी दर पीढ़ी असंख्य जीवन ज्योतियाँ इस भ्रमपुंज में समाहित होती चली जाती हैं, लेकिन इस दीप्ति को अंगीकार न करने वाले सूर कभी विलीन नहीं होते क्योंकि इस उजास से उनकी आँखों का कोई रिश्ता नहीं। उनकी आँखें वे देखती हैं जो इस उजाले में देखा नहीं जा सकता। वे इस आलोक की निरंतरता, तेज़ और फैलाव के बंधनों से बहुत परे हैं। इसलिए 'रुनकता' किसी अंधे सूर का गाँव नहीं, ऐसी भोर का क्षितिज है जहाँ से एक अनोखे आलोक के एक नहीं कई सूरज जन्में हैं जिनकी चिरंतन नियति सिर्फ भोर है। ऐसी भोर जिसे संध्या की लालिमा या अस्ताचल की दिशा के बंधन कभी बाँध नहीं सके। सूर की आँखों में बसा आलोक सूर्य के आलोक से कहीं अधिक ज्योर्तिमय है।

तब ऐसा कौन–सा आलोक है जिसने सूर के नयन जगमगाए, जिसने उनकी आँखों के भौतिक अंधत्व को पराजित किया, जिसने सूरज के आलोक को ललकारा, उसे चुनौती दी और उसकी जययात्रा को खंडित कर दिया।

रहा होगा ऐसा आलोक सूर के पास जो सिर्फ उनकी ही निधि रहा। समाया रहा उन्हीं में और उन्हीं में विलीन हो गया। इस आलोक की न तो निरंतरता रही होगी, न फैलाव, न किरण पुंज और न ही अपने विलुप्त होने का भय।

वह उजास ऐसी रही होगी जो भले निरंतर न रही हो पर कभी–कभी चमकी होगी। फैली भी नहीं होगी उन नयनों की परिधि के बाहर और विलुप्त भी नहीं हुई होगी लम्बे अन्तराल के लिए।

उसने हौले से चमककर कभी आँगन में खेलते 'हरि' को देखा होगा, कभी ग्वालों के साथ गाय चराते, होली खेलते, गोपियों के साथ रास रचाते कान्हा को, कभी दही मथती यशोदा को और कभी कालिंदी के तीर पर लजाती लाजवंती राधा को। ब्रज के कुंज और मथुरा की गलियों को इसी उजास में निरख लिया होगा।

सूर के अंधे नयनों में बसा यही आलोक सूर का सागर है, जिसकी नीली सतह सूरज के प्रकाश से नहीं, किन्हीं जुगनुओं की क्षण भर चमककर लीन हो जाने वाली और पल–भर बाद फिर चमक जाने वाली ज्योति से झिलमिलाती है। इसकी सतह पर किरणों के लम्बे जहाज़ नहीं डोलते, छोटे–छोटे दीपों की नौकाएँ तैरती हैं। सूर की आँखों में समाया यह आलोक उन जुगनुओं का है जिनकी हर क्षणिक चमक से कान्हा की एक लीला और राधा की एक भंगिमा जन्मी। जुगनुओं की इसी चमक से वात्सल्य का रस जन्मा, प्रीत की रीत जन्मी, प्रणय के गीत जन्मे और भक्ति का ऐसा अद्भुत संगीत जन्मा जिसने समूचे युग को विभोर कर दिया।

आलोक और अनुगूंज के इस संगम के स्रष्टा सिर्फ सूर ही हो सकते थे, जिन्हें हमने द्रष्टा न मानकर दृष्टिहीन माना और खुद अपने अंधत्व को उजागर कर दिया।

सूरज और जुगनू दोनों ही प्रकाश के स्रोत हैं लेकिन अपनी प्रकृति में पूर्णतः भिन्न। कहाँ अथाह सागर और कहाँ किसी नन्हीं–सी कोंपल पर ठहरे, सिमटे जल बिंदु। लेकिन इन दोनों के आलोक में एक मूलभूत अंतर है और वह है अंधकार का अंतराल।

सूरज को रोज़ डूबकर फिर उगना पड़ता है लेकिन जुगनू जिनकी रौशनी क्षणिक होती है, अपने अस्तित्व में स्थायी होते हैं। वे मरते तक चमकते रहते हैं। उन्हें रोज़ डूबकर फिर उगना नहीं पड़ता, इसलिए वे जब–जब भी चमकते हैं अपनी पूरी जीवंतता के साथ क्योंकि उन्हें डूबने का भय नहीं होता।

नियमित मरण उनकी नियति नहीं होती।

उजास की ये तैरती लड़ियाँ सौंदर्य की कल्पना के हर मोती को अपने में पिरो लेती हैं। सूरज का रोज़ उगना और प्रकाश देना हमें कोई सौंदर्य–बोध नहीं देता, कोई कल्पना नहीं देता, संकल्प नहीं देता देता है तो सिर्फ उसके आलोक में जीने की आदत जो हमारी विवशता है और विवशता में न तो श्याम के पीताम्बर बुने जा सकते हैं, न तट पर बाट जोहती राधा की छवि।

इसलिए सूर की आँखों में बसा आलोक ऐसे जुगनुओं का आलोक है जो उनके जीवन–भर बस उन्हीं की आँखों में चमककर कृष्ण और राधा की भंगिमाओं को, शब्दों के मोतियों में गूँथता रहा, गूँजता भी रहा और जो बिना डूबे उन्हीं की आँखों से जन्म कर उन्हीं में समा गया। ऐसे जुगनुओं के चरणों पर असंख्य सूर्यों के शीश न्यौछावर हैं। मुझे अँधेरी रात

में किसी वृक्ष के आसपास चमकते हर जुगनू में ऐसी भोर दीखती है जिसकी कोई साँझ नहीं होती।

फिर पत्थरों के गाँव

पत्थर सिर्फ पत्थर होते हैं। निष्प्राण, कठोर, ठोकरों की छाँह और नफरत की निगाहों की तीखी किरणों के बीच अपने दिन काटने वाले उपेक्षित अस्तित्व।

यदि कभी कोई कलाकार अपनी छेनी से उन्हें ऐसा आकार दे भी दे कि वे किसी महल या मंदिर में प्रतिष्ठित हो सकें तो ऐसे अपवाद भले उसका रूप बदल दें लेकिन उनकी नियति फिर भी नहीं बदलती।

शिल्पहीन आकारों में वे पड़े रहते थे। कलाकार ने उन्हें खड़ा कर दिया। खड़े रहने या पड़े रहने में कोई मौलिक फर्क़ नहीं होता। सिर्फ पत्थर को देखने वाले की दृष्टि बदल जाया करती है। मगर देखने वाले की दृष्टि बदलने से पत्थर की नियति बदल जाए ऐसा नहीं होता।

यदि ऐसा होता तो ताजमहल के गुम्बज गाने लगते मगर वे तो रोते हैं। ताज को देखने वालों का कहना है कि अभी भी ताज के अंदर जाने कहाँ से कुछ पानी की बूँदें टपकती हैं। पानी की इन बूँदों को कोई चखे तो उनका स्वाद उसे खारा लगे।

ताज से सटी जमना में बहता पानी, ताज के सफेद पत्थरों की आँखों से बहा पानी है। यमनोत्री से इस पानी का कोई लेना–देना नहीं।

आँसू पीड़ा की अभिव्यक्ति होते हैं और पीड़ा मानव और पत्थर में कोई फर्क़ नहीं मानती। यह बात अलहदा है कि हम पत्थर की पीड़ा को नहीं जानते।

पत्थर की पीड़ा जानना आसान भी नहीं है। यह आसान हो सकता है कि पत्थरों में देवत्व तलाश लिया जाए। मुमताज़ की स्मृति खोज ली जाए या 'शालभंजिका' को उकेरकर खजुराहो या ग्यारसपुर में सौंदर्य की चरम परिणति को स्थायी आकार दे दिया जाए मगर बहुत मुश्किल है पत्थर की पीड़ा को समझ पाना। उसे समझने के लिए पहले खुद पत्थर बनना पड़ेगा। बगैर पत्थर बने पत्थर का मर्म नहीं जाना जा सकता।

राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध महामानव नहीं, महापाषाण थे। उन्होंने कोशिश की थी पत्थर के मर्म में झाँकने की। मानव की व्यक्त पीड़ा को समझ पाना बहुत सरल था, मगर अव्यक्त की पीड़ा को जान पाना बहुत कठिन। इन महापुरुषों के सामने चुनौती यही थी कि वे अव्यक्त की पीड़ा को समझते और फिर उस पीड़ा का अनुभव कर मानव मन की व्यक्त पीड़ा से उसकी तुलना करते। बगैर सागर में उतरे उन्हें पोखर की गहराई का पता लगता कैसे ?

उन्होंने इसी पीड़ा को समझने की कोशिश की। सागर की गहराई को माप लिया। फिर उन्हें देर ही नहीं लगी यह समझने में कि पोखर की गहराई से उबरा कैसे जाए ?

वे अव्यक्त की गहनता तक पहुँचकर यह खोज लाए कि व्यक्त की पीड़ा दूर कैसे हो ?

निष्प्राण पड़ी पाषाणी अहल्या, राम के पाँव की ठोकर से जब मानवी बनी तब उसे शायद यह मालूम ही न रहा हो कि यह ठोकर तो एक बड़े पाषाण की, एक छोटे पाषाण को लगी ठोकर है। यह न तो भगवान की ठोकर है न मानव की और जब राम का नाम पत्थरों पर लिख–लिखकर नल और नील सागर में उन्हें फेंकने लगे तो वे पत्थर सिर्फ बंधुत्व की मर्यादा में बँधे भारहीन होकर तैरे और अपने अग्रज की विजय के लिए उन्होंने अपने स्वभाव की मर्यादा तोड़ दी।

रामेश्वर से लंका तक बना पुल कोई दैवीय चमत्कार नहीं था, वह तो एक बड़े पूजनीय पाषाण के लिए छोटे–छोटे पाषाणों की कर्तव्यनिष्ठा और बंधुत्व की अभिव्यक्ति का बाँध था।

इतिहास की तो यही साक्षी है कि हम भले इन्हें भगवान कहें, महामानव कहें या महाप्राण लेकिन ये थे सिर्फ महापाषाण ही। इन्होंने जितना झेला वह मानव नहीं झेल सकता। सिर्फ पत्थर झेल सकता है।

इतना झेलने के बाद भी वे रोए नहीं, कभी आँखें नम भी हुई हों सीता को खोजते, ब्रज से बिछुड़ते, वैशाली के राजप्रासाद को त्यागते या राहुल और यशोधरा को सोते छोड़कर अपने 'कन्थक' नामक अश्व से यह कहते कि तात ! आज की रात तू मुझे तार दे क्योंकि इसके बाद तो मैं सारी दुनिया को तार देने वाला हूँ तो इन आँखों में समाए आँसुओं को पत्थर के आँसू ही कहना पड़ेगा क्योंकि इतनी मर्मांतक वेदना कोई मानवीय सम्वेदना झेल ही नहीं सकती।

सीता, राधा और यशोधरा के बिछोह को झेलना और फिर अपने आपको सारी समष्टि के लिए सौंपकर अपने सारे दायित्व निभाकर सरयू में समा जाना, अपने सुदर्शन को स्वर्ग भेजकर एक मामूली बहेलिए को ही अपना उद्धारक मानकर सूने पेड़ के तले अपनी इहलीला समाप्त कर लेना और अपने शिष्य आनंद की गोद में अंतिम साँसें लेते हुए बिना किसी दुविधा के निर्वाण को प्राप्त हो जाना, ऐसा जीते हुए मरण को वरण लेना ही मानवीय प्रकृति की सहनशीलता के सारे बंधन तोड़ देता है।

राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध ने यही बंधन तोड़े और पत्थर बनकर उसके मर्म को पा लिया।

आज कौन चाहेगा पत्थर बनना ? कोई नहीं चाहता कि उसे पत्थर बना दिया जाए। मगर आघातों की निरंतरता इतनी है कि सम्वेदना के रेशे–रेश बिखर गए, मूल्यों के मानक तक छितरा गए इधर–उधर, इतना पीटा आघातों ने कि सहिष्णुता की सहनशक्ति चुक गई।

तब शेष क्या रहा ? सिर्फ पाषाणी कंकाल जिस पर अब किसी आघात की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। राम भी मानव से पाषाण बने थे लेकिन उनकी पाषाणी मौलिकता का कोई मुकाबला नहीं। इसलिए कि वे इन आघातों को झेलते रहे लेकिन ज्यों–ज्यों आघात तीव्र हुए उनका संघर्ष भी उतना ही प्रबल होता गया। वे मर्म के उतने ही निकट पहुँचते गए। वे जूझते रहे इन आघातों से और अंततः इन्हीं आघातों के बीच से उन्होंने इन पर विजय पा लेने का मार्ग खोज निकाला।

पाषाण राम भी थे और हम भी हैं अंतर सिर्फ संघर्ष–शक्ति के होने और न होने का है।

हमारी संघर्ष–शक्ति शून्य है। इन आघातों को हम अपनी नियति मान बैठे हैं इसलिए न चाहते हुए भी पत्थर बन जाना पड़ता है। सम्वेदना हो या मूल्य, वे बिखर जाते हैं और हमारी पाषाणी देह, हमारे मानव होने का भ्रम देती रहती है।

अयोध्या या गोकुल इसलिए जाने जाते हैं क्योंकि वहाँ ऐसे पाषाण जन्में जिन्होंने मूल्यों के महल खड़े किए। यही पाषाण इन महलों की नींव थे और ये ही शिखर। आज कहीं कोई अयोध्या नहीं, गोकुल नहीं, वैशाली नहीं मगर ऐसी असंख्य बस्तियाँ हैं जहाँ पाषाण खड़े हैं, पड़े हैं, जिनकी कोई अहमियत नहीं। वे चलते हैं, फिरते हैं, बोलते हैं, दिशा देने का अभिनय करते हैं लेकिन इन असंख्य बस्तियों में कहीं गोकुल नज़र नहीं आता, अयोध्या नहीं दीखती।

काश! अरबों के आँकड़े न होते और गिनती के नाम पर सिर्फ अंक ही होते पाँच–दस तो इन अंकों में गोकुल, अयोध्या, वैशाली और कपिलवस्तु को ही गिन लिया जाता। कोई ज़रूरत नहीं होती फिर ढेर सारे देशों के नाम गिनाने की, शहरों की संख्या जोड़ने की, मंदिर, मस्जिद या गिरजाघरों की स्थापना को लेकर लड़ने की।

पत्थर की एक और खासियत होती है, वह पिघलता नहीं। लोहा पिघल जाता है मगर पत्थर कभी नहीं पिघलता। इसलिए कि पिघलने से गुण बदल जाते हैं। जल प्रवाह बहुत चाहता है कि वह पत्थर को भी पानी बना ले लेकिन उन्हें इस प्रवाह की चोटों से रेत बनना मंजूर होता है, पानी बनना नहीं। वे चूर–चूर होकर नदी के किनारे बिखर जाएँगे, उसकी जलराशि में विलीन हो जाएँगे मगर उसके साथ उसके रूप में खुद को बदलकर बहेंगे नहीं।

यों बर्फ के टुकड़े भी होते हैं जो ठोस होते हैं, कठोर होते हैं, दूर से पत्थर होने का भ्रम देते हैं मगर वक़्त आने पर ये तपन नहीं सह पाते और पानी में तब्दील हो जाते हैं। ऐसे बर्फ के टुकड़ों की कृत्रिम कठोरता ने कभी–कभी बहुत छल किया है पत्थर की कठोरता के साथ। कई पत्थर बिखर गए रेत बनकर और बर्फ के टुकड़ों ने पिघलकर अपने–अपने सरोवर बना लिये, झीलें बना लीं और उनमें अपने लिए कमल खिला लिये।

पत्थर का दुर्भाग्य यह भी है कि वह कठोर होता है और कठोर तो वक़्त आने पर पानी भी हो जाता है। इस कठोरता में फर्क़ नहीं हो पाता। बर्फ की कृत्रिम कठोरता फायदा उठा ले

जाती है लेकिन पत्थर की कठोरता रेत बन जाना पसंद करती है, वह न झील बन पाती है न सरोवर। कमल या कुमुदिनी उसके भाग्य में नहीं होते।

बाज़ी उन्हीं के हाथ लगती है जो स्वार्थ से स्वरूप बदलने में निपुण होते हैं।

आज कोई पारखी नहीं बचे। कठोरता के पारखी भी नहीं। यदि पाषाण की कठोरता अवसरों ने सराही होती तो मर्म जैसी कोमल संज्ञा का पर्याय पाषाण होता। मगर अवसरों ने स्वार्थ का साथ दिया। जाने कब यह बात मानी जाएगी कि सबसे कोमल मर्म सिर्फ पत्थर के ही पास होता है।

मानवीय सम्वेदना और अनुभूति की समूची पराकाष्ठा पत्थरों में जीवित है। पत्थर के मंदिर हैं, पत्थर की मूरतें, पत्थर के गिरजा, पत्थर की मस्जिद, पत्थर की राधा, पत्थर के कृष्ण और पत्थरों के ही ताज, कोणार्क और खजुराहो। फिर भी पत्थर कठोर और निष्ठुर कहा जाता है।

क्या कोमल होने की कसौटी सिर्फ लचीला होना है ?

नहीं, यह कसौटी गलत है, हमारी सोच गलत है। सैकड़ों गवाहियाँ हैं इतिहास के पास जब इस लचीलेपन ने कोमलता की अस्मिता कुचल दी और प्राणवान होने के नाम पर कई ऐसे निष्ठुर प्राण इस धरती पर जन्में जिन्होंने समूची मानवता के ध्वंस पर अपनी महत्त्वाकांक्षा के महल खड़े करने चाहे।

धृतराष्ट्र के लचीलेपन ने महाभारत रच दिया, जयचंद और मीर जाफर जैसे लचीली निष्ठा वाले कापुरुषों ने इस देश को गुलामी की ज़ंजीरें दे दीं।

आज हाल यह है कि कहने को हम आज़ाद हो गए हों लेकिन यह लचीलापन हमारी मानसिकता में ऐसा समाया है कि आज़ादी हमारे लिए सिर्फ ऐसा हर्फ है जो 15 अगस्त के दिन हमारे आज़ाद होने की याद दिला जाता है और 16 अगस्त से हम फिर गुलाम हो जाते हैं।

यदि इस परिप्रेक्ष्य में पत्थर को देखें तो मालूम होगा कि पत्थर कोमल भले न हो मगर सच्चा मर्म तो उसी के पास है।

हम इस मर्म को यदि पा न सकें तो उसे टटोलने की कोशिश तो करें। मर्म का स्पर्श ही बहुत प्रेरक होगा। पत्थर बड़े मार्मिक हैं। उनके पास जाओ अपना दर्द लेकर तो वे इस दर्द से जुड़ी मुसीबतों से आगाह करेंगे।

पत्थरों की नियति की तरह उपेक्षा की तीखी धूप के बीच बैठे एक विस्मृत से कवि देवीप्रसाद "राही" की ये पंक्तियाँ हैं :

फिर पत्थरों के गाँव मेरा दर्द गया है
लगता है मुसीबत का समाचार मिलेगा
फिर कोई धुआँ पूरी घुटन लेके उठा है
लगता है मेरा गाँव कई बार जलेगा।

मेरे अधूरे बाज़ार पर

जहाँ शहर होते हैं, वहाँ बाज़ार भी होते हैं। बड़े शहरों में ये बाज़ार मार्केट कहलाते हैं, शॉपिंग कॉम्पलेक्स कहलाते हैं और गाँवों में हाट। शहर की आधुनिक माँ से पूछो, "आंटी विपिन कहाँ गया है ?" तो आंटी का जवाब होता है "बेटे जी.टी.बी. कॉम्पलेक्स तक गया है, एक डिस्को कैसेट लेने" और देहात की काकी से पूछो, "काकी रम्मू किते गयो ?" तो काकी कहती है, "हाटई तरपै गयो है भईया, मिरच खुट गई थी आतई होएगो"।

डिस्को की कैसेट से लेकर मिरची तक की उपलब्धता का एकमात्र स्रोत बाज़ार है। बाज़ार में सभी कुछ मिलता है, जिस्म से ज़मीन तक। सिर्फ खरीद–फरोख्त के लिए मुद्रा चाहिए।

मुद्रा पर्याप्त हो तो उससे भरतनाट्यम से लेकर कुचीपुड़ी तक की मुद्राएँ खरीदी जा सकती हैं। आज के बाज़ार में भाव करके भाव खरीदे जा सकते हैं।

भवानी भाई खुले आम गीत बेचते थे, "जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ / मैं किसिम–किसिम के तरह–तरह के गीत बेचता हूँ"। इस गीत फरोश ने गीत बेचकर वेदनाएँ खरीदीं।

जिस बाज़ार में उन्होंने गीत बेचे उस बाज़ार में गीत की यह क़ीमत थी। मेरे कस्बाई शहर में भी, उसके बीचों–बीच एक अनोखा बाज़ार है। शहर के इस बाज़ार को बीच में खड़ा घंटाघर दो भागों में बाँटता है। यह अनोखा इस मायने में है कि घंटाघर के दाईं ओर जो बाज़ार है उसकी दुकानों का शिल्प उन्नीसवीं शताब्दी का है जबकि बाईं ओर की दुकानों का वास्तु इक्कीसवीं सदी के आने वाले शिल्प की भूमिका बाँधता है। आधा बाज़ार बिलकुल पुराना है और आधा बिलकुल नया। बाज़ार के इस अभिनव स्वरूप को देखकर अजनबी ताज्जुब करते हैं और शहर वाले इसे अपनी उपलब्धि मानते हैं। यह बाज़ार किसी ऐसी नारी प्रतिमा की व्यंजना है जिसकी देह का आधा भाग देहाती नववधू की तरह नाभि तक पल्लू लटकाए और आधा हिस्सा मिनी स्कर्ट पहने किसी गौरांग बाला के सुघड़ रूप की याद दिलाता है। यह बाज़ार एक ऐसी देवी की याद दिलाता है जो ऐसी कुलीन नववधू रही हो जिसकी आधी देह, देहलीज़ से बाहर निकल गई और आधी अंदर रही। बाहर निकली आधी देह के हिस्से ने पाँवों से पायल उतार दी, बाल बॉब कट करा लिये लेकिन जो देह आधी अंदर रही उसका न पल्लू हट पाया न पायल।

अब हाल यह है कि दोनों तरफ की दुकानों पर एक–सी चीज़ें बिकती हैं, लेकिन दामों में फर्क़ होता है। नए बाज़ार की नई दुकानों से सामान खरीदने का गौरव अलग झलकता है। पुराने बाज़ार की दुकानों से सामान खरीदने वालों को हल्का और पिछड़ा समझा जाता है।

इस बाज़ार के आधे निर्माण ने बड़ा निर्मम आघात किया है, मेरे शहर पर। इस अधूरे निर्माण ने मन बाँट दिए, मानसिकताएँ बाँट दी, प्यार की अबाध बहती धारा के बीच ऐसी

चट्टान रख दी कि दो धाराएँ हो गई नेह की, जिनके पथ बदल गए। इस अधूरे निर्माण ने प्रेम से जन्मने वाले नैसर्गिक अधिकार छीन लिये, दृष्टि देकर उजास छीन ली, मोगरे की कलियों के गजरे से चोटियाँ गूंथकर किसी नवेली के हाथ से आईना छीन लिया, वाणी छीन ली, और ओठों को सिर्फ थरथराने के लिए छोड़ दिया।

अधूरे निर्माण के यही मतीजे होते हैं; अधूरा निर्माण हमारे अखंड प्रेम की अनुपम इमारत का पूर्ण विध्वंस होता है। इसलिए निर्माण या तो हो ही नहीं या हो तो एकनिष्ठ संकल्प के साथ, सम्पूर्ण हो अपनी पूरी उत्कृष्टता को साथ लिये। मेरे शहर का दो सदी पुराना घंटाघर इस विभाजन का मौन साक्षी है, लेकिन कुछ दिनों पहले आधी रात के बाद जब मैं उसके पास से गुज़र रहा था, मुझे उसके पत्थरों के बीच से सिसकियाँ सुनाई दीं।

इस घंटाघर की छाती के तले महात्मा गांधी की भी मूर्ति है। मुझे लगता है जब घंटाघर सिसकता होगा तो इस पाषाणी प्रतिमा की आँखों से भी दो–चार जलबिंदु ढलक जाते होंगे। गांधी बहुत कम रोए जीवन में लेकिन उनकी देह के अंत के बाद उनकी आत्मा के आँसू शायद ही कभी थम पाए हों।

गांधी की जो यह प्रतिमा आज खड़ी है वह नई है, घंटाघर जितनी पुरानी नहीं है। पुरानी प्रतिमा के साथ एक दुर्घटना घट चुकी है। गांधी जयंती पर भक्तों ने एक बार उन्हें माल्यार्पण किया। इस माल्यार्पण के मौके पर उनके तीन–चार भक्त श्रद्धा के अतिरेक में इस ऊँची प्रतिमा के कंधों पर एक साथ चढ़ गए और पूज्य बापू के गले में माला डालने का प्रयास करने लगे। जब ये भक्त सामूहिक रूप से उनके कंधों पर पहुँच गए तब वहाँ इस बात को लेकर हाथापाई होने लगी कि माला पहले कौन पहनाएगा ? इसी बीच बापू अपने प्रति दर्शाए गए इस आदर भाव से इतने आतंकित हुए कि वे सीधे ज़मीन पर आ गए। प्रतिमा खंडित हो गई। उसके संगमरमरी टुकड़े सड़क पर बिखर गए। हमारी आस्था खंडित मूर्ति को पूज्य नहीं मानती इसलिए वहाँ नई गांधी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर दी गई।

यों तो गांधी को हमने जीते जी खंडित कर दिया था और यह भी कहा जा सकता है कि गोडसे ने सिर्फ एक औपचारिकता निभाई थी लेकिन गांधी को मारकर उनकी मूर्ति सँजोना हमारी विवशता है और इस विवशता के कई कारण हैं। उनकी मानवीय सम्वेदना, धार्मिक समभाव, सत्य और अहिंसा के मूल्य, प्रेम, करुणा और आस्था के स्निग्ध भावों के प्रति निष्काम समर्पण और उसके अलावा भी ऐसा बहुत कुछ जो सारे वादों से हटकर समूची मानवता की अमर धरोहर है। विवशता इसलिए है क्योंकि जो कुछ भी गांधी के पास था उसे हम अपना नहीं सकते लेकिन भुनाना ज़रूर चाहते हैं और इसीलिए गांधी आज हमारी आस्था में कहीं नहीं हैं लेकिन आकारों में ज़रूर हैं और इन आकारों को छोड़ पाना बहुत मुश्किल है हमारे लिए क्योंकि जैसा भी हो हमारी अस्मिता, वह इन्हीं आकारों के बीच सुरक्षित है।

ज्यों–ज्यों गांधी के प्रति हमारी निष्ठा ढलने लगती है त्यों–त्यों गांधी के पाषाणी आकार और तेज़ी से ढाले जाने लगते हैं। पत्थर की यही क़ीमत है। यों तो वह किसी काम का नहीं

होता लेकिन ज़रूरत पड़ने पर हमारे छद्म को छिपाने की ढाल बन जाता है। देश के अनगिनत चौराहों पर लगी गांधी प्रतिमाएँ हमारे छद्म को छुपाए मौन खड़ी हैं। मिट्टी और पत्थर का सबसे बड़ा मूल्य उनका मौन होना है।

मेरे शहर के आधे निर्मित बाज़ार की तरह गांधी की भी नियति रही। उनका अधूरा व्यवहारीकरण हुआ। खादी की धोती और टोपी के प्रतीकों का व्यवहारीकरण हो गया लेकिन उनके दर्शन के तत्त्व वहीं रह गए। तत्त्व पर टोपी हावी हो गई। हाल यह है कि जो उनके दर्शन को समग्रता में व्यवहृत करना चाहते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है, और कोई इस दुर्गति को भुगतने के लिए तैयार नहीं है। परिणाम यह है कि सच्चा गांधी भले एक न हो लेकिन सच्चे गोडसे असंख्य हैं।

इस अधूरेपन की वजह से हमारे देश के बाज़ार और हाट इन दिनों बड़ी गर्दिश से गुज़र रहे हैं। छोटे शहरों के बाज़ारों का अधूरापन तो दीख पड़ जाता है लेकिन महानगरों के बाज़ारों का अधूरापन दीखता नहीं, उसकी अनुभूति ज़रूर हो जाती है। इन बाज़ारों में दुकानें सजी हैं, चमचमाते बोर्ड लगे हैं, रौशनी इतनी है कि दिन और रात का फर्क़ समझ में नहीं आता, लेकिन क्वालिटी का फर्क़ समझ में आता है, साफ लगता है कि जो बेचा जा रहा है उसकी क्वालिटी बहुत घटिया है, उसमें मिलावट है, छल है। खोटा बड़े नाज़ से कहता है :

"खोट होते हुए भी नगद दाम पर
रौशनी में बिका और क्या चाहिए ?"

और खरा या तो वह है ही नहीं या जिस दुकान पर है उसके बंद होने की नौबतें हैं। अधूरे बाज़ार की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसे खोटी चीज़ बेचना लाज़िमी है, भले रौशनी पर कितना ही खर्च हो। माल की क्वालिटी को सुधारने के या खरे माल को ईमानदारी के साथ बेचने के उसके संस्कार ही नहीं हैं, क्योंकि उसे भय है कि खरा माल ज़्यादा दिन चलेगा तो कहीं दुकान की बिक्री पर फर्क़ न पड़े। आजकल कम बिक्री करने वाली दुकान की कोई अहमियत नहीं, भले वह खरा माल बेचे। इसलिए आज बाज़ारों में माल खोटा और रौशनी खरी बिकती है।

आज बाज़ारों में मूल्य खरीदे और बेचे जाते हैं, मूल्य से चीज़ें खरीदी, बेची नहीं जातीं। इसलिए अब वे दुकानदार भी नहीं रह गए मार्केट में जो मूल्यों की परख जानते थे। वे बाहर कर दिए गए मार्केट से क्योंकि वे आधुनिक दुकानदारी के गुर नहीं जानते थे। दुकानें उनकी सज गईं जिन्हें सपने में भी दुकानें सजाने का गुमान नहीं रहा होगा। बकौल दुष्यंत :

"दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो,
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।"

राजनीति हो, समाज हो, संस्कृति हो या व्यवस्था, हर क्षेत्र के बाज़ारों की यही हालत है। इन हालात पर पश्चाताप करके दशक पर दशक बीतते जाते हैं लेकिन हालात सुधरते

नहीं। वे सुधरेंगे भी नहीं क्योंकि पश्चाताप में सिर्फ आँसू होते हैं, आग नहीं होती और यदि आग होती भी है तो वह सिर्फ खुद को पिघलाती है, हालातों को नहीं। पश्चाताप की अग्नि, उसके आँसुओं की किस्म से कुछ ज़्यादा नहीं होती।

इसलिए इन बाज़ारों को बदलना ज़रूरी है। उन्हें नए साँचों में ढालना ज़रूरी है उनका पूरा निर्माण करना आवश्यक है और यह ज़्यादा आवश्यक है कि वे अधूरे बनाकर न छोड़ दिए जाएँ। उनका अधूरा निर्माण उनके वर्तमान अस्तित्व से ज़्यादा खतरनाक होगा।

मेरी यह सबसे बड़ी आकांक्षा है कि अब जब कभी मैं रात के बारह बजे के आसपास सन्नाटे भरी रात में अपने कस्बाई शहर के बीचों–बीच बाज़ार में खड़े घंटाघर के पास से गुज़रूँ तो मुझे उसके पत्थरों के बीच से बजाय सिसकियों के संगीत सुनाई दे और उसकी छाती के तले खड़ी गांधी की प्रतिमा के ओठों पर मुस्कान की अठखेलियाँ दीख पड़ें।

मैं समझ लूँगा, मेरा बाज़ार अब अधूरा नहीं रहा। उसका निर्माण पूरा हो गया है।

राजधानी में लोकधानी तलाशते हुए

राजधानी, राजधानी होती है। राजशाही खत्म होने के दशकों बाद भी बड़े फख्र से उस जगह को हम राजधानी कहते हैं जहाँ से लोकतंत्र की गंगोत्री के फूटने का दावा होता है।

इस जगह को लोकधानी क्यों नहीं कहते ?

राजधानी का तो यह मतलब होता है कि जहाँ राजा रहे, जहाँ से राजकाज चले, जहाँ से हुक्म सुनाए जाएँ और हुक़्म उदूली की सजा दी जाए। राजधानी के यही अर्थ हमारे सदियों पुराने इतिहास से आज तक चले आ रहे हैं।

हम दावा करते हैं कि राज के अर्थ बदल गए, कोई राजा नहीं रहा, राज्य अब जनता का है और उसके नुमाइंदे शासन नहीं प्रशासन चलाते हैं। हुक़्म भी जनता देती है और सजा भी वही सुनाती है।

इन हालात में जबकि सारे अधिकार जनता के पास हैं तो फिर अर्थ के साथ संज्ञा क्यों नहीं बदली राजधानी की ?

सच शायद यह है कि अर्थ तो बदले ही नहीं कुछ, शब्द–भर बदल दिए गए और जब ये बदलाव लाने की कोशिशें हुई तो 'राजधानी' शब्द छूट गया।

यदि अर्थ बदलते तो यह शब्द खटकता और बदल दिया जाता मगर जब अर्थ ही नहीं बदले तो इस शब्द की व्यंजना के बदलने का भी क्या सवाल ? इसलिए राजधानी को राजधानी ही मानना चाहिए। राजधानी में लोकधानी के अर्थ खोजने की गुंजाइश नहीं है।

शुरू–शुरू में जब मैं राजधानी आया तब मेरे भाव दूसरे ही थे। चाहे सचिवालय जाने वाली सड़क हो या किसी 'लोकराजा' के बंगले तक जाने वाली लिंक रोड, वे मेरे लिए जनपथ ही थे लेकिन वक़्त बीतते यह अहसास गायब होने लगे। इन सड़कों पर चलने वाले लोग, बंगलों के बाहर भीड़ लगाए लोग, दमकती कारें, चमकती लाइटें, लाल, हरी, पीली और दूधिया रौशनी की जगमग यह अहसास कराने लगी कि मैं जनपथ पर नहीं राजपथ पर हूँ।

इन सड़कों पर चलने वाले लोगों को मैंने देखा कि वे किसी अधिकार से चलते। उनकी चाल तो उस याचक की तरह होती जिसकी पीठ पर यातनाओं की ऐसी गठरी हो जिसके बोझ तले उसके कंधों की हड्डियाँ झुक गई हों। बंगलों के बाहर खड़े ऐसे याचकों के हाथों में मैंने अर्ज़ियों की खाली कटोरियाँ देखीं और देखा कि बजाय कुछ देने के ये कटोरियाँ रख ली गईं और बाद में उन्हें बगैर देर किए फेंक दिया गया क्योंकि उनसे बंगलों के कालीन गंदे होते थे।

राजधानी में सिर्फ दो किस्म के लोग दीख पड़े, लेने वाले और देने वाले, पाने वाला कोई नज़र नहीं आया।

यहाँ विधान मिले, नियम मिले, प्रक्रिया मिली लेकिन क्रिया नहीं मिली। गति का अभिनय हर जगह देखा मगर पाई सिर्फ जड़ता और स्थिरता।

एक से एक गांडीवधारी धनुर्धर लक्ष्य बेधने को तत्पर दिखाई दिए लेकिन किसी भी ऐसे अर्जुन के आगे कोई मीन नहीं दिखाई दी। आँख वाली मछलियाँ तालाब में तैरते देखीं और अंधे धनुर्धर लक्ष्य साधते देखे। हाथ चलाए तो मुट्ठियों में सिर्फ हवा आ पाई, गुलाब सूँघे तो गंधहीन निकले, राजधानी के बाज़ार से एक बाँसुरी खरीदी, सोचा कुछ मीठे बोल निकालूँगा तो उसके रंध्र ही बंद पाए, मेरी साँस फूल गई मगर वंशी से कोई स्वर नहीं फूटे।

स्वर से सड़क तक को साधा मगर नतीजा सिफर ही रहा। मैं यहाँ बस ढूँढ़ता रहा लेकिन न तो ताल में डूबने वाले मिले, न अस्पताल में भर्ती होने वाले। यहाँ सब कुछ सुलभ और सब कुछ दुर्लभ मिला।

राजधानी में सैलाब हैं—आदमियों के, कारों के, कला, धर्म और साहित्य के नाम पर चाँदी बटोरने वाले कलाकारों के, हर तरह का काम कराने की ताकत रखने वाले ठेक़ेदारों के, अंदर से पोले लेकिन ऊपर से कर्णभेदी आवाज़ निकालने वाले नक्कारों के, खुशनुमा बहारों के, दिलकश नज़ारों के और सिर्फ वज़न को ढोते हुए लहूलुहान काँधों वाले कहारों के भी।

तरह—तरह के इन अंतहीन सैलाबों का कहीं कोई छोर नहीं है।

राजधानी का कोई कोना सूखा नहीं है, हर जगह या तो सैलाब है या जगह सैलाब गुज़र जाने की वजह से नम है।

राजधानी में राज ही राज है। अफसरों का, अवसरों का, खबरों का और मसखरों का भी। यह प्रदेश के हर आस्तिक का एक मात्र पवित्र धाम है। चार धामों की आस्था रखने वाले गँवई श्रद्धालुओं के लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। इस पवित्र धाम में बड़े—बड़े मंदिर हैं, मस्जिद हैं, गिरजाघर हैं, गुरुद्वारे हैं जहाँ प्रार्थनाएँ होती हैं, नमाज़ें अदा की जाती हैं, प्रेयर होती हैं, ग्रंथवाणी का पाठ होता है। फर्क़ सिर्फ इतना है कि इन स्थानों में जिन ईश्वरों की वंदना की जाती है, वह आम ईश्वर से भिन्न हैं।

राजधानी में पूजे जाने वाले ईश्वरों ने खुद अपने पूजने के लिए स्थान तलाश कर अपने आसपास अपनी—अपनी भक्त मंडलियाँ जोड़ रखी हैं, अपने—अपने धर्म—ग्रंथ रच रखे हैं, अपने—अपने पुजारी पाल रखे हैं। इन भगवानों के आसपास झूठे भरोसों के परकोटे हैं और आश्वासनों के तोरण। इनके पास वह सब कुछ है जो सच्चे ईश्वर के पास नहीं है। ये आत्माहीन परमात्मा हैं। इन ईश्वरों के पास अपनी भव्यता का शिल्प तो है लेकिन भावना के प्राण नहीं।

इनके भक्त भी इनकी तरह हैं। वे भक्ति भाव में आकंठ डूबे रहते हैं। उनकी आस्था तो स्थिर रहती है, बस आराध्य बदलते रहते हैं। वे ऐसे दिए हैं जिनको अनवरत जलना है।

उनका घी कभी खत्म नहीं होता, जोत कभी बुझती नहीं मगर उनकी रौशनी सिर्फ सिंहासन पर विराजे भगवान के लिए है। भगवान कौन है ? इससे उनके कोई सरोकार नहीं।

राजधानी बहुत धार्मिक और बहुत अधार्मिक भी होती है।

यहाँ हर चीज़ का भाव है, कत्थक का भी, कत्थे का भी। अभाव सिर्फ कर्म, शर्म और मर्म का है। यहाँ छल के छातों तले मौसम बीतते हैं और छद्म की छत के तले रोज़मर्रा की ज़िंदगी।

इन छतों और छातों के बिना जीना दूभर है।

मेरी नज़र में राजधानी एक दिल की, लाखों दिलों में पलती, करोड़ों आशाओं से रोज़ की जाने वाली दिल्लगी है।

हालाँकि ऐसा कोई हक़ उसे नहीं मिला था लेकिन उसने हथिया लिया।

राजधानी एक ऐसी तिजोरी है साहूकार की जिसमें लोग आशाएँ गिरवी रख जाते हैं और उनके बदले अपनी मुरादों के पूरी होने के सपने लेकर लौट आते हैं।

सपने पूरे होते नहीं, ब्याज बढ़ता जाता है और आशाएँ इस बंदीगृह में छटपटाती रहती हैं।

मज़े की बात यह है कि जो भी साहूकार इस तिजोरी का मालिक बनता है वह इन बंद आशाओं को तुरंत मुक्त करने की घोषणा करता है पर उसकी घोषणा के दूसरे रोज़ से उस तिजोरी में उड़ती हुई आज़ाद आशाओं की तितलियाँ और पकड़–पकड़ कर बंद की जाने लगती हैं।

किसी भी राजधानी की रंगीनी उसके खुद के रंगों की नहीं होती, उन तितलियों के पंखों के झरे रंगों की होती है जो तिजोरी से निकालकर उसके कपाटों पर रंग दिए जाते हैं।

राजधानी यंत्र, तंत्र और मंत्र का केंद्र होती है। यहाँ यंत्र की भी यंत्रणा है और तंत्र की भी। जहाँ दो लोग आपस में मिलते हैं वे या तो एक दूसरे को यंत्रणा देने लगते हैं या मंत्रणा करने लगते हैं। राजधानी के आदमी का व्यवहार किसी यंत्र के पुर्ज़े का–सा भावहीन व्यवहार है, जिसमें सिर्फ खटखटाहट गूंजती है। यहाँ का निवासी निकटता के अभाव की समस्या से जूझता है, चाहे यह निकटता स्थान की हो या मन की। हर एक जगह से दूसरी जगह तक के फासले लम्बे हैं। स्थान हों या मन दोनों दूर–दूर बसे हैं। इन फासलों को तय करने के बाद जगहें तो मिल जाती हैं लेकिन मन नहीं मिल पाते। यहाँ के आदमी का मन या तो किसी तंत्र के चमत्कार की आशा में जीता है या यंत्रवत बस खटखटाता सा रहता है। मन के मिलाप वाले दृश्य भी यहाँ दीखते हैं लेकिन इन दृश्यों में छुपी भितरघात साफ नज़र आ जाती है। यहाँ के फक़ीर राजा जैसा अभिनय करते हैं और जो राजा हैं वे फक़ीर की मुद्रा में झोली

लटकाए घूमते हैं। यहाँ के बंगलों के अंदर राजा नहीं फक़ीर रहते हैं, राजा तो बाहर घूमते हैं तरह–तरह के वेशों में, शक्लों में।

राजधानी एक साहूकार का ऐसा खाता है जिसमें रोज़ सैकड़ों कलमें जमा और नामे माँडी जाती हैं। इन कलमों का जमा–खर्च करने वाले सैकड़ों की तादाद में मुनीम में हैं। इस खाते में संस्कृति, साहित्य, लोककला, नाट्य और संगीत के लिए भी कुछ पन्ने छोड़े गए हैं जिनमें यदाक़दा एंट्रियाँ डाली जाती हैं। खाते के बाकी पन्नों में सिर्फ राजनीति और अर्थ की प्रविष्टियों का ही जमा–खर्च मिलेगा।

और भी बहुत कुछ है कहने को राजधानी के बार में। यों यह भी कहा जा सकता है कि ऊपर जो कुछ कहा गया वह सिर्फ आलोचना ही आलोचना है, राजधानी की गतिविधियों का एकांगी चित्रण है लेकिन यह सब कुछ वही है जिसकी वजह से राजधानी, राजधानी है, लोकधानी नहीं है।

मैं राजधानी में उन मिले हुए मनों को कहाँ ढूँढूँ जो दो होकर भी एक दीखते हैं? आज़ाद उड़ती तितलियों को कहाँ खोजूँ ? कहाँ इकलौता ईश्वर पा लूँ और कहाँ ऐसा दिया जिसकी जोत को मालूम हो कि वह किसके जल रही है ?

यह तो बिना खोजे सिर्फ उस लोकधानी में मिल पाएगा जिसे मैं खोज रहा हूँ।

शिखर से बोलते हुए

जी हाँ मैं शिखर से बोल रहा हूँ। उत्तुंग शिखर से जिसके शीर्ष पर सिर्फ मैं हूँ। शिखर के शीर्ष पर पहुँच जाने के बाद बोलना अनिवार्यता भी बन जाता है और विवशता भी, इसलिए मैं बोल रहा हूँ।

शिखर की चोटी पर अकेला मौन बैठा हूँ तो फिर वहाँ बैठने कौन देगा? कई मौनी शिखर पर पहुँचने के लिए अविराम यात्राएँ कर रहे हैं, सिर्फ इसलिए कि शिखर तक पहुँच जाएँ फिर बोलें। मौन यदि बीच में भंग हुआ तो यात्रा खंडित हो सकती है, कोई दूसरा मौनवृत्ती वहाँ पहुँच जाएगा।

इसलिए बोलने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा मौन की होती है।

मौन यात्रा का सबसे बड़ा फायदा यह है कि कोई दूसरा प्रतिस्पर्धी आपके मंतव्य को जान नहीं पाता। इस यात्रा के रास्ते भी कई होते हैं इसलिए अलग–अलग रास्तों से, छोटे और दुर्गम रास्ते तलाशते हुए भी रोग चुपचाप चलते रहते हैं और जो पहले पहुँच जाता है शीर्ष पर शिखर के, वह वाचाल हो उठता है।

मैं भी चुपचाप चला। छोटे रास्ते ढूँढ़े जो दुर्गम भी थे और वक़्त आया कि मैं औरों के पहले शिखर के शीर्ष पर पहुँच गया और अब वहाँ से बोल रहा हूँ। मेरे कई साथी जो मुझसे पहले चले, जिनकी तैयारी की खबर रही लोगों को, जिन्होंने वर्षों पहले मुझसे यात्रा आरम्भ की वे अभी मुझे शिखर से काफी नीचे की पगडंडियों पर बौने से दीख रहे हैं और मैं शिखर पर बैठा बोल रहा हूँ।

बोलने, बोलने में भेद हैं। शिखर से बोलना और धरातल पर खड़े रहकर बोलना ज़मीन और आसमान के अंतर की तरह है। शिखर से बोलो तो भले ही वाणी अस्पष्ट हो, समझ में न आए केवल गूंजती भर रहे तो भी बोलना सार्थक होता है। उसकी कद्र होती है और धरातल पर खड़े रहकर सही बोलो, स्पष्ट बोलो, समझ में आने वाली बात बोलो तो भी समझ में नहीं आती।

आकाशवाणी का महत्त्व इसीलिए है कि वह ज़मीन से नहीं होती। अपने–अपने काल में जो ज़मीन से ज़मीन की बात, लोगों से लोगों की बात उन्हीं की भाषा में बोले उन्हें या तो ज़हर के प्याले थमा दिए गए, टाँग दिया गया फाँसी पर, पत्थरों से मार दिया गया या अनाम जला दिया गया, दफना दिया गया।

वे सुकरात थे, मंसूर थे, जीसस थे, कबीर थे या मीरा थी

सदियाँ उनकी सरल और सहज बातों को समझने में लगी। कई पीढ़ियों के दौर गुज़र गए तब उनका कहा समझ में आया। उसे मान्यता मिली लेकिन कब ?

जबकि वाणी से रिश्ता टूटे शताब्दियाँ बीत गईं और वे मौन हो गईं सदा के लिए। आज उनकी वाणी उधार के कंठों में क़ैद है और उस मौन के सहारे ये उधार के कंठ अब वाचाल हो पूजे जा रहे हैं, मालाएँ पहन रहे हैं, समारोह कर रहे हैं, जयंतियाँ मना रहे हैं।

मीरा से मंसूर तक की यही कहानी है। मूल वाणी तिरस्कृत हुई और उधार के कंठ पूज दिए गए।

इतिहास के इसी सबक को ध्यान में रखकर मैं ज़मीन पर नहीं बोला। चुपचाप रहा, छोटे और दुर्गम रास्तों को लाँघकर शिखर पर पहुँचा और अब वहीं से बोल रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं क्या बोल रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि धरातल तक पहुँचते–पहुँचते ये बोल एक गूंज में बदल जाएँगे, अस्पष्ट गूँज में जिनका कोई अर्थ भी नहीं निकलेगा या अनेक अर्थ निकलेंगे। लोग शिखर पूजते हैं, उस विराजे हुए को पूजते हैं।

वाणी को कौन पूजता है ?

वाणी से ज़्यादा स्थायित्व और गरिमा उसकी अस्पष्ट अनुगूँज में है। व्यक्ति से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण उसकी परछाईं है जो उससे कहीं अधिक लम्बी होती है। इसलिए इस गरिमामय गूँजों और परछाइयों की कहीं अधिक प्रतिष्ठा है। वाणी और व्यक्ति गौण हैं इनके समक्ष। शिखर के शीर्ष पर बोलने से अनुगूंज भी बहुत होती है और परछाईं भी लम्बी हो जाती है।

मैं इसीलिए शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

धरातल पर बोलने वाले कई हैं लेकिन उनकी सुनने वाला कोई नहीं है। यदि शीर्ष से बोला जाए तो उसकी अस्पष्ट अनुगूंज को धरातल के सभी लोग सुनते हैं, वे भी जो बोलते हैं और वे भी जो सिर्फ सुनते हैं। ये सभी ध्यान से कान लगाकर सुनते हैं और फिर इस अनुगूंज में अर्थ ढूँढ़ने लग जाते हैं।

मैं शिखर से बोलता रहूँ, ज़मीन के लोग उस अनुगूँज को सुनते रहें, उसमें खोकर अपना बोलना भूल जाएँ और सिर्फ उसके अर्थ खोजने में तल्लीन हो जाएँ यही तो मेरा उद्देश्य है।

इसीलिए मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

इस बोलने में मैंने एक सावधानी बरती है, वह यह कि बोलने में निरंतरता न रहे, कुछ विराम भी हो। निरंतर बोलते रहने से इन बोलों की अनुगूँज शोर में बदल सकती है। एक समरसता पैदा हो सकती है। बोल की पोल खुलने का भय हो सकता है। कोई और भी प्रयास कर सकता है विद्रोह का। इसलिए मैं बोलने की निरंतरता बरकरार नहीं रखता। मैं बोलने की शैली भी बदल देता हूँ जिससे गूंज के स्वरों में भिन्नता आए और ज़मीन के लोग नए अर्थ ढूँढ़ने में तत्पर हो जाएँ।

इसलिए मैं बोलते, उसे थोड़ा विराम देते और उसमें थोड़ा बदलाव लाते शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मैं वर्तमान हूँ और भविष्य में भी इसी वर्तमान को जीवित रखना चाहता हूँ। यह भी चाहता हूँ कि यह वर्तमान जब अतीत में बदले तब इतिहास मेरे शीर्ष बोलों को अमर जगह दे, मेरी लम्बी परछाईं को प्रेरणापुंज के रूप में प्रतिष्ठित करे। भावी पीढ़ियाँ मेरी परछाईं और मेरे बालों की अनुगूंज में मेरे कृतित्व और व्यक्तित्व की तलाश करें और मुझे महान मानने की चिरभ्रांति पाल लें।

मैं इसी चिरभ्रांति के स्थायित्व को बरकरार रखने के लिए शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मैं जानता हूँ मेरे इन बोलों के बीच नैसर्गिक गीत दब गए, संगीत दब गया, ताल भंग हो गई, कई ओजस्वी स्वर खो गए, माधुर्य की तान विलीन हो गई मगर मैं विवश हूँ। शिखर पर बैठकर मैं कोई ऐसा गीत नहीं गा सकता, कोई ऐसी कविता नहीं सुना सकता जो ज़मीन के लोगों में सम्वेदना जगा जाए और लोग खुद के स्वत्व को तलाशने की जुर्रत करने लगें। मेरा अस्तित्व और उसकी महानता तो इसी में है कि मैं ऐसा बोलूँ जिसके लोग अर्थ ढूँढ़ते रहें। जिस दिन लोग इन बोलों की निरर्थकता समझ गए और अपना स्वत्व खुद खोजने लगे उस दिन मैं, मैं नहीं रह जाऊँगा। इसलिए मैं गीत, संगीत, लय, तान और माधुर्य का हंता ही बना रहना चाहता हूँ। ये सब मेरे बोल की अनुगूँज के शत्रु हैं। इनकी पराजय में ही मेरी जय है।

इसलिए इन सबको रौंदकर, इन्हें दबाकर अपने पैरों तले मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

एक सिद्धांत है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। लेकिन शिखर से बोलना इसका अपवाद है। इस मायने में कि शिखर से निकले बोल नीचे तक पहुँचते–पहुँचते अनुगूँज में बदल जाते हैं, अस्पष्ट सी अनुगूंज में जो समझ में नहीं आती है और अनुगूंज की क्या प्रतिक्रिया होगी? वह तो ज़मीन पर उतरती है और थोड़ी देर ठहर फिर विलीन हो जाती है जैसे जुगनू की रौशनी।

ऐसी रौशनी से क्या भय ? उसकी क्या प्रतिक्रिया ? क्या विरोध और क्या विद्रोह ?

थोड़े विराम के बाद जब दूसरी अनुगूँज आती है तब तक लोग पहली को या तो भूल चुके होते हैं या फिर उसके अर्थ खोजते रहते हैं। उनकी यह क्रिया चलती रहती है। यह अपने आप में इतनी पूर्ण और आवरण मय होती है कि उस पर किसी दूसरी क्रिया का असर ही नहीं होता। मेरा ध्येय भी यही है कि कोई प्रतिक्रिया न हो केवल ठहराव बना रहे, पोखर के पानी की भाँति ऐसा ठहराव जिसमें लहरें न उठें क्योंकि लहर का जन्म मेरे अस्तित्व का अंत है।

इसलिए इस ठहराव को अपलक निहारते मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मेरी नज़र इस ठहराव पर भी है और शिखर तक पहुँचने वाले रास्तों पर भी क्योंकि कई मौनवृत्ति जो मेरे अनुगूँज के भ्रम को समझ गए इन रास्तों पर चलने के लिए नकल पड़े हैं। कई पहले से ही चल रहे हैं। इसलिए मैं अपने दोनों हाथों से अनवरत पत्थरों को भी उन रास्तों पर लुढ़का रहा हूँ जो शिखर पर पहुँच सकते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं, बल्कि मेरे लिए तो बुराई जैसा कोई शब्द ही नहीं है क्योंकि जो मैं बोलता हूँ वही सच है और जो करता हूँ वही अच्छा है। इसलिए मेरा पत्थर फेंककर उन रास्तों को बंद कर देना मेरे हित में है। मेरा हित ही सबसे बड़ा सच है और सर्वोत्तम है इस सच को अंगीकार कर लेना।

इन पत्थरों की वर्षा से मैं उन पथिकों का दम्भ तोड़ रहा हूँ जो यह भ्रम पाले हुए हैं कि वे उस शिखर पर पहुँच जाएँगे जहाँ मैं आसीन हूँ। उनके अहं ने उन्हें भ्रमित कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि उनका यह भ्रम टूटे और वे फिर धरातल पर पहुँच उन्हीं लोगों में शामिल हो जाएँ जो जाने कब से इन अनुगूँजों के अर्थ ढूँढ़ रहे हैं।

इसलिए निरंतर अपने दोनों हाथों से शिखर तक आने वाले रास्तों पर पत्थर फेंकते हुए, मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

यह सभी जानते हैं कि जितना सहज बोलना होता है उतना ही दुरूह होता है करना। वे विभूतियाँ अब सिर्फ इतिहास की धरोहर हैं जिन्होंने जो बोला वह किया। गांधी से गांधारी तक, मीरा से मंसूर तक और महावीर से कबीर तक।

ये व्यक्तित्व अब समय की चादर की सिलवटें भर हैं।

इतिहास की हर करवट के साथ इन सिलवटों का सिलसिला चला मगर, ज्यों–ज्यों समय की चादर रेशमी होती गई, इन सिलवटों का बनना बंद होता गया। आज के समय की चादर ऐसे रेशमी कपड़े की है, जिस पर जब इतिहास करवट लेता है तो कोई ऐसी सिलवट नहीं पड़ती जो इस बात की साक्षी हो कि इस सिलवट में कहीं कोई महावीर है या कबीर।

इतिहास की ये सिलवट भरी चादरें या तो संग्रहालयों की शोभा हैं या अवसरों की।

आज के समय की चादर इतिहास की करवट से कोई सिलवट नहीं चाहती। हम भी नहीं चाहते कि ऐसी सिलवटें पड़े इस चादर पर। लेकिन समय की चादर को तो बिछते चले जाना है, उसका कोई दूसरा छोर तो होता नहीं और फिर उसे भी तो अपनी गरिमा बनाए रखना है। अपने इतिहास पुरुष को समेटने वाली चादर ने अब इस इतिहास पुरुष से कह दिया है कि तुम मुझ पर शयन करो पर करवट मत लो। तुम्हारे करवट लेने से सिलवटें पड़ती हैं कबीर की, गांधी की, महावीर की, मंसूर और मीरा की। ये अब बहुत पड़ चुकीं मुझ पर। इन्हें अब विराम दो। मुझ पर पड़े रहो सीधे, यथावत आँख खोले।

मैं अब इस चादर में सिर्फ गूँजों को सहेजूँगी।

जो शिखर से बोलेगा उसकी अनुगूँजों को सहेज कर सौंप दूंगी तुम्हें, इससे मुझमें सिलवटें भी नहीं पड़ेंगी और ये तुम्हारी धरोहर भी होंगी तथा मेरी गरिमा भी। इससे मेरा रूप भी यथावत ही रहेगा इसलिए मेरे इतिहास पुरुष तुम सिर्फ लेटे भर रहो, करवट मत लो।

परिणाम यह है कि समय की चादर शिखर के शीर्ष से उतरी अनुगूँजों को सहेज कर इतिहास को सौंप रही है। जाग्रत इतिहास पुरुष आँखें खोले लेटा है इस चादर पर, उन्हें समेट रहा है अपने अध्यायों में उनके अर्थ खोजकर। वह व्यक्तित्व और कृतित्व को छोड़कर गूँज और परछाइयाँ रच रहा है। इससे सभी खुश हैं, समय भी, इतिहास भी, लोग भी और मैं भी।

इसीलिए मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

सलाम, भोपाल की शाम

शाम जिसे साँझ कहते हैं, संध्या कहते हैं उजास के एक पुल का नाम है जो प्रभात से रात को जोड़ता है। इस पुल की नियति भी यही है कि यह रोज़ बने और रोज़ टूटे। इसके टूटते ही अँधेरे की नदी के तटबंध भी टूट जाते हैं और इस अँधेरे के काले जलप्रवाह को भोर की आलोक भरी किरणें क्षितिज में फैलकर समेटने लगती हैं अपनी बाँहों में। फैलते–फैलते ये बाँहें पुल बन जाती हैं जिस पर से दिन अपने सारे कार्य सम्पन्न कर गुज़र सकता है और उसके दूसरे छोर पर पहुँचते ही उजास का यह पुल टूट जाता है।

शाम उजास की इस टूटन का भी नाम है और उसके फिर से जन्मने की प्रेरणा का भी।

ताल के शहर भोपाल की शाम उजाले की इस टूटन को भी समेटे रहती है और उसके फिर जन्मने के उत्साह को भी।

नीली फैली विशाल झील की तरंगों पर जब डूबते सूरज की सुनहरी किरणों के प्रतिबिम्ब झलकते हैं तब इन प्रतिबिम्बों में किसी को आने वाले कल की रौशनी दीख पड़ती है और किसी को अँधेरा।

पुराना भोपाल हो या नया हर शाम को तालाब में दोनों अपने अक्स तलाशते हैं।

पुराने भोपाल के इस इलाक़े में छोटा तालाब है जहाँ गैस रिसी थी। वहाँ के बचे हुए लोग अक्सर गुमसुम बैठे इस तालाब के आइने में अपने बिछुड़े जनों के बिम्ब ढूँढ़ते हैं। इस तलाश के बीच उनका खुद का अक्स गुम हो जाता है और इस छोटे तालाब के किनारे बैठे–बैठे ढलती साँझ के बीच अपने तथाकथित घरों में अँधेरे के बीच लौट आते हैं। साँझ को घर लौटते समय उनका मन तन से भारी होता है और तन से कई गुणी लम्बी उनकी उदास परछाइयाँ उन्हें दूसरे रोज़ फिर वहीं बैठने के लिए अपने–अपने बसेरों में वापस लौटा लाती हैं।

यह भीषण त्रासदी बीत गई लेकिन इससे उपजी यंत्रणा यथावत है। पुराने भोपाल की हर शाम ढेर से लाल सवालों के साथ हर दरवाज़े की देहलीज़ पर खड़ी हो जाती।

ये अनुत्तरित सवाल रात के अँधेरे में गुम हो जाते हैं, सबह की रौशनी में खो जाते हैं लेकिन शाम होते ही फिर उभरकर खड़े हो जाते हैं।

शाहजहाँनाबाद और परी बाज़ार के रास्ते गुज़रते शाम को हर बार मैंने कई गुमसुम और गुमनाम शख्सियतों को इस तालाब के किनारे चुपचाप बैठे देखा है और वाचाल मौन का अर्थ समझते हुए मैं भी चुपचाप चला आया हूँ।

लालघाटी, बैरागढ़, पुराना सचिवालय, रॉयल मार्केट, पीरगेट और जुमेराती से लेकर जहाँगीराबाद तक पुराना भोपाल फैला है। यहाँ कोई खास तब्दीली नज़र नहीं आती। इसलिए

यहाँ की शामें वही पुरानी शामों की तरह हैं। कुछेक इलाकों को छोड़कर जैसे कोहे फिज़ाँ या ईदगाह हिल्स, वहाँ आभिजात्य वर्ग रहता है, या वहाँ कुछ राजप्रभुओ के निवास हैं, शाम के तेवर अभी भी पुराने दौर की ही याद दिलाते हैं।

इन इलाकों के बाशिंदों की शाम "को खाँ चले आ रिये हो निपट के" इस सम्वाद के साथ शुरू होती है और थोड़ा बहुत बतियाने के बाद "चलें भाई मियाँ सुबू जल्दी जाना है" के वाक्य के साथ खत्म हो जाती है।

प्रायः ठंड को छोड़कर कमला पार्क और किलोल उद्यान में साँझ गुंजार रहती है। कमला पार्क के पास लगी रेलिंग के सहारे शाम को कई जोड़े बैठे मिलेंगे, बतियाते, खिलखिलाते या झील में उतरती किरणों के अक्स निहारते। कई जोड़े बच्चों के साथ मूँगफली खाते, चाट खाते भी दीख जाते हैं। किलोल पार्क में भी बच्चों युवकों, प्रौढ़ों की भीड़ शाम को दिख जाती है। झाड़ियों के तले मर्यादित नवयुगल भी दीख जाते हैं। उनकी प्रणय भंगिमाएँ बम्बई के हैंगिग गार्डन या जुहू चौपाटी की रेत पर लेटे नवयुगलों की तरह नहीं होती। इस लिहाज़ से कुछ पुराने भोपाल की शाम अभी आधुनिकता के इस आयाम के बहुत पीछे है।

भारत भवन के निर्मित होने के बाद वहाँ की शाम की एक अलग पहचान है। संगीत, नाट्य और कला के इंद्रधनुषी रंगों को अपने में सँजोए भारत भवन की शाम पर्यटकों और बुद्धिजीवियों को खींचती है, उन्हें भी जो भले बुद्धिजीवी न हों पर जिनमें जिज्ञासा है उसके शिल्प को देखने की वे भी खिंचे चले आते हैं। हुसैन की खींची लकीरें वे नहीं समझ पाते पर उनके मस्तक पर एक गर्व रेखा खिंच जाती है।

भारत भवन के प्रांगण में उतरती शाम के बीच भारत भवन देखने आए अनपढ़, भोले ग्रामवासियों को देखकर लगता है जैसे सूट और टाई पहने किसी आभिजात्य और आधुनिक युवक के मस्तक पर चंदन लगा दिया हो।

भारत भवन के रास्ते वनविहार की तरफ जाने वाली एकाकी सड़क पर बिखरी शाम बड़ी सुहानी होती है। इस शाम में न शोर घुला होता है न पुराने भोपाल की गलियों में फैली दुर्गंध। झील के किनारे–किनारे इस सड़क पर शाम को निकलो तो लगता है कि जैसे हरियाली के तटों के बीच साँझ की लालिमा में भीगे सपनों के संसार में तैर रहे हों। हरियाली का एक तट झील की सतह होता है और दूसरा वनविहार की हरियाली। इस हरितिमा के बीच विचरते, वन्य प्राणियों को देखते–देखते मानों सृष्टि का सौंदर्य सार्थक हो जाता है।

झील की इस लुभावनी साँझ को होटल इम्पीरियल सैबरे की ऊँची प्राचीरों से भी देखा जा सकता है। एक ज़माने में यह होटल भोपाल के नवाबों का महल हुआ करती थी। इसकी ऊँची पथरीली दीवारों ने नवाबी दौर के कई सूरज झील की गहराइयों में उतरते देखे। इन दीवारों के हर पत्थर में चाहे वह अहमदाबाद पैलेस का हो या इम्पीरियल सैबरे का नवाबी तवारीख की कई शामें समाई हुई हैं।

बड़ी झील के आसपास जड़े इन तराशे पत्थरों ने अपने आगोश में जाने कितनी शामों के कितने किस्सों और तवारीख के हिस्सों को बाँध रखा है कोई नहीं जानता। वे तो मूक साक्षी भर हैं बीती साँझों के। यदि वे बोलने लगे तो फिर इतिहास की कवायद का क्या मायना ? इस पाषाणी मौन ने इन अनाम शामों के बारे में कई किंवदंतियाँ भी घोल रखी हैं फिज़ाओं में।

पत्थरों में बँधी ये मूक संध्याएँ अभी तक किसी राम की ठोकर की प्रतीक्षा में हैं।

पुराने भोपाल की शामों की शायद यही नियति है कि वे चुपचाप बीत जाएँ और तब्दील हो जाएँ पत्थरों में।

नए भोपाल की शाम की छटा अलग है। इस नए भोपाल में भी ईदगाह हिल्स और कोहे फिज़ा की तरह चौहत्तर बंगले, अरेरा कॉलोनी और चार इमली हैं। जुमेराती और परी बाज़ार की तरह नॉर्थ और साउथ टी.टी. नगर हैं और टीला जमालपुरा की तरह एम.ए.सी.टी. के नीचे बसी झुग्गियाँ, झोपड़ियाँ हैं, शाहपुरा के पास जनता क्वार्टर्स हैं। यहाँ भी शाम के वर्ग भेद हैं। वह सम्पन्न, मध्यम और निर्धन हैं। इन सारी जगहों से अमूमन हर शाम को हर वर्ग के लोगों की छोटी–छोटी धाराएँ निकलती हैं और न्यू मार्केट के सागर में आकर विलीन हो जाती हैं। यह न्यू मार्केट में फैली रहती हैं बनारसी पान भंडार से जी.टी.बी. कॉम्प्लेक्स और जवाहर चौक तक। इस साँझ के साझी प्रोफेसर्स कॉलोनी के आभिजात्यों से लेकर जनता क्वार्टर्स के सोहन, मोहन तक होते हैं। एक शाम बिड़ला मंदिर की भी होती है भक्तिमय लेकिन श्रद्धाहीन। इस शाम में पुष्प होते हैं लेकिन गंधहीन।

वल्लभ भवन, विंध्याचल और सतपुड़ा के सरकारी हिमशिखरों से जो मानव सैलाब शाम को पाँच से साढ़े पाँच के बीच फूटता है उसकी एक मोटी–सी धारा सीधी न्यू मार्केट में आकर मिलती है।

नया भोपाल राजधानी का पर्याय है। यहाँ अस्सी फीसदी सरकारी पुर्ज़े रहते हैं जो हर शाम को बिखर जाते हैं और हर सुबह 10 बजे फिर तंत्र के यंत्र में जुड़कर फाइलों में निहित ऊर्जा से प्रदेश के विकास का पहिया चलाने लगते हैं। न्यू मार्केट की शाम इन्हीं पुर्ज़ों के नाम होती है जो उन्हें तेल पानी से सराबोर कर दूसरे दिन फिर फिट बैठने के लिए तैयार करती है। इसीलिए ज़्यादातर सरकारी वर्ग के लोग सीधे न्यू मार्केट आते हैं या घर जाकर अपनी सलामती की हाजरी लगाकर फिर न्यू मार्केट चले आते हैं।

न्यू मार्केट की साँझ में कोई कविता नहीं होती, कोई गीत नहीं होते सिर्फ एक रीत भर होती है। बाहर से आए आगंतुक यहाँ बिना "पास" की झंझट पाले सरकारी पुर्ज़ों से स्वच्छंद मिलते हैं। इंडियन कॉफी हाउस, राज स्वीट्स या ज़्यादा स्तर का काम हुआ तो "क्वालिटी" रेस्टोरेंट में, कॉफी आइस्क्रीम या बियर के बीच अपनी शाम गुज़ार देते हैं।

शाम 5–30 के बाद न्यू मार्केट का पतझर वसंत में बदल जाता है।

इस वसंत में भौंरों की गुंजार होती है, नए पत्ते निकल आते हैं, पल्लव भी फूट जाते हैं, पुष्प भी खिल जाते हैं लेकिन उनमें गंध नहीं होती। न्यू मार्केट की शाम सौरभ की शाम नहीं है। वसंत का बाना ओढ़े पतझर की शाम है।

खरीद फरोख्त करने वालों की भीड़, ग्वालियर स्वीट्स पर कचौरी खाने वालों का मजमा और बनारसी पान भंडार पर 'खास' पान खाने वालों का हुजूम, न्यू मार्केट की शाम के आम दृश्य हैं।

भोपाल पहाड़ियों पर बसा है। रात को देखो तो लगता है जैसे छोटे–छोटे आलोक के द्वीप जगमगा रहे हों। दिन में ताल और रात में रौशनी के जाल की नगरी का नाम भोपाल है।

इस नगरी की निराली साँझ की लालिमा भी इन द्वीपों पर फैली रहती है, अपने–अपने रूप में। नए भोपाल के सरकारी क्लर्क जो साउथ और नॉर्थ टी.टी. नगर में 'एच' और 'आई' टाईप के क्वार्टर्स में रहते हैं, उनकी शाम का एक हिस्सा मिनी बस, मोपेट या सरकारी बस के सफर में बीत जाता है। 'एफ' 'ई' 'डी' और 'सी' टाइप में निवास करने वालों, एच.आई.जी. और एम.आई.जी. में रहने वालों की शामों के रंग अक्सर रंगीन होते हैं।

चौहत्तर बंगले और चार इमली के आभिजात्य सरकारी इलाकों की सड़कें शाम को सूनी रहती हैं लेकिन घर गुंजार। इन इलाकों के लोग अपने पड़ोसी को भी नहीं जानते इसीलिए हर शाम सिर्फ उनकी अपनी होती है। वह कई घरों में प्यालों में ढल जाती है या साहब के तेवर देखकर देहलीज़ से ही वापस हो जाती है।

सरकारी सेवक पर दिन में क्या बीता, वह शाम के आइने में झलकने लगता है।

इन सरकारी शामों को क्या कहा जाए जो आला अफसर की दिनचर्या की तरह घर में भी दरवाज़ों के अंदर क़ैद हो जाती है। मुझसे इन शामों का फड़फड़ाना देखा नहीं जाता।

बी.एच.ई.एल. का उद्योग क्षेत्र अपनी अलग पहचान रखता है।

वहाँ की शामों पर भी यांत्रिक बोध हावी है लेकिन ढलते सूरज की किरणों में अनुराग की उजास और रागों का संगीत वहाँ का जनमानस कभी खोज लेता है।

इस क्षेत्र में 'नर्मदा' और 'साँची' के मोहक उद्यानों में खिले गुलाबों की पाँखुरियों पर गिरती रश्मियाँ ऐसा आभास देती हैं, जैसे सौरभ पर स्वर्ण की वर्षा हो रही हो।

लेकिन दुर्गा चौक तलैया की शाम मुझे ज़्यादा खींचती है जहाँ से तालाब भी क़रीब है और जिसके अहाते में शंकर भाई की छोटी–सी किराना दुकान है या मुन्ना की होटल जहाँ शाम के झुंटपुट में बहती बयार के बीच 'कट' चाय की चुस्कियों में दिन के सारे दर्द मिठास में घुल जाते हैं।

इस तरह कई रंग और रूप हैं भोपाल की शाम के। शब्द कम हैं और शाम के रूप अधिक। यहाँ की शाम हक़ीक़त में फैले हुए हर्फ़ों की तरह है। इन हर्फ़ों को चुन–चुनकर हरेक अपने लिए मनपसंद इबारत लिख लेता है। राजधानी की ये इबारतें इतिहास गढ़ती हैं और दूसरे दिन की सुबह बड़ी संजीदगी से पढ़ती हैं। इन इबारतों में दिलों की धड़कनें भी होती हैं।

यहाँ जुस्तजू–ए–दिल की अदा पर भोपाल के मशहूर शायर जनाब शेरी भोपाली रीझे हैं:

"गजब है जुसतजू–ए–दिल का ये अंजाम हो जाए
कि मंज़िल दूर हो और रास्ते में शाम हो जाए।"

लेकिन भोपाल की इस शाम में आशा और विश्वास की असंख्य रश्मियाँ भी समाई हैं जो सिर्फ जगमगाती रहती हैं।

भोपाल की इस आशा को स्वर्गीय दुष्यंत इन अमर शब्दों में बाँध गए हैं :

एक खंडहर के हृदय सी, एक जंगली फूल सी
आदमी की पीर गूँगी ही सही गाती तो है
'एक चादर साँझ ने सारे नगर में डाल दी'
यह अँधेरे की सड़क इस भोर तक जाती तो है।

कुम्भ का मेला, मैं भीड़ में अकेला

मोह, मानव मन की कई दुर्बलताओं में से एक का नाम है। इस दुर्बलता का पाश बड़ा सबल है। इतना सबल कि जिसमें जकड़े–जकड़े हम निष्प्राण हो जाते हैं, लेकिन यह पाश हमें नहीं छोड़ता और न ही हम इसको। तर्क, ज्ञान, साधना, विराग दर्शन के शस्त्र प्रहार मोह के इन पाषाणी बंधनों पर पड़ते रहते हैं, लेकिन ये वज्र बंधन नहीं टूट पाते।

मोह तर्क को आस्था से, ज्ञान को दर्शन से, साधना को विलास से और वैराग्य दर्शन को जिजीविषा से पराजित कर देता है। मोह को तोड़ने वाले शस्त्र आपस में ही द्वंद्व करते रहते हैं, लेकिन मोह का शाश्वत रूप कभी भंग नहीं होता।

हर बारह बरस में हरिद्वार और प्रयाग की गंगा पर सजने वाले, सिंहस्थ के नाम से महाकाल की उज्जयिनी और नासिक के गोदावरी तट पर जुड़ने वाले कुम्भ, मोह के मेले हैं।

जाने कितनी सदियों से अमरत्व की आकांक्षा लिये अनगिनत पीढ़ियों ने हर बारहवें वर्ष इन पुण्य सलिलाओं में स्नान किया होगा और चिर जागरण की आकांक्षा को सँजोए चिरनिद्रा में लीन हो गई होंगी।

देवताओं के घट से भूलवश अमृत की एक तरल बूँद हमारे मानस की ऐसी पाषाणी आस्था बनी, जो दृढ़ से दृढ़तर होती गई। आस्था के ये प्रस्तर न टूट सके। न कोई शिल्प इन्हें बाँध सका, न इनकी कोख से कोई गंगा, गोदावरी या शिप्रा फूट सकी। अमृत की यह बूँद आस्था का पाषाणी स्वरूप भर रह गई।

यदि अमृत का अर्थ सिर्फ हर बारहवें साल एक नए पत्थर को जन्म देकर अपने अस्तित्व की अमरता को सार्थक करना है तो फिर हर कुम्भ शायद चिर जीवन के बजाय चिर मरण का साक्षी है, क्योंकि पत्थरों में प्राण नहीं होते।

निष्प्राण आस्था अमरता का क्या वरदान देगी ?

हर कुम्भ हमारी इसी निष्प्राण आस्था का प्रतीक भर बना रह जाता है।

अमृत तो धरोहर है देवताओं की। उन्होंने उसे समुद्र मंथन से अपने लिए प्राप्त कर सँजोया या घट में, उनकी भूल से टपकी थी, अमृत की बूँदें। उन्होंने वर्षा नहीं की थी उनकी, हमें अमर करने के लिए। फिर जाने क्यों हम लालायित हो उठे इतने उन बूँदों के पीछे, जो हमारी धरोहर ही नहीं रहीं, जो देवताओं की अनिच्छा से टपकी धरती पर, जिन पर हमारा कोई अधिकार ही नहीं रहा।

सम्भवतः इसलिए कि हम भी सहभागी हो सकें देवत्व के, अमरत्व के, लेकिन हम शायद कुम्भ में स्नान करते समय यह भूल जाते हैं कि किसी की भूल उसका वरदान नहीं होती। असावधानी से हुए कृत्य का परिणाम केवल पश्चाताप होता है। बड़ों की भूल या

असावधानी उन्हें सजग कर देती है, वे उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते, बल्कि छोटों को उसका फल भुगतने के लिए छोड़ देते हैं।

इसलिए ये पीयूष बूँदें बाद में कभी नहीं टपकीं और हम आज भी अमृत की कल्पना के अतीत में स्नान कर रहे हैं।

देवताओं ने तो अपनी भूल दुबारा नहीं की, लेकिन हम छोटे लोग हर बारहवें साल सिर्फ स्नान कर अमर नहीं होते पछताते हैं।

अमरत्व की आकांक्षा लेकर क्षिप्रा में स्नान करने के बाद, मरण को वरण लेना सिर्फ पछताना है। ऐसा पछताना जिसकी अनुभूति भले न हो, क्योंकि मोह की पाषाणी दीवार अनुभूति के रास्ते रोक लेती है, लेकिन हमारा पछतावा देवताओं की गरिमा के अनुकूल है। यह उनके देवत्व के अहं को सहलाता है।

बड़े अपनी भूल का पश्चाताप भी छोटों के पछताने में देखते हैं, इसलिए कुम्भ हमारे लिए पछतावा पर्व है, न पुण्य पर्व न पावन पर्व। यह पाषाण पर्व है, जो सदियों से निर्मित होते आ रहे आस्था के हिमालय में हर बारहवें साल एक पत्थर और जोड़ जाता है।

मैं आस्था और आशा से भरपूर प्राणवादी हूँ। मैं न तो अनास्थावादी हूँ न ही अनीश्वरवादी, लेकिन प्राणवादी ज़रूर हूँ।

आस्था में प्राण हों तो कर्म का ईश्वर जीवंत हो उठता है।

मेरी प्राणवान आस्था जब मेरे ईश्वर की प्रतिमा के समक्ष खड़ी होती है तो लगता है, जैसे इस आस्था की साँसें इस प्रतिमा में समा गई हों, मुझे झुकना नहीं पड़ता।

इस जीवित ईश्वर के चरणों में असंख्य प्रणाम स्वयमेव बिखर जाते हैं। प्रणामों की इस गंगा में स्नान कर मैं अमर हो उठता हूँ। मेरा अमरत्व देह से नहीं जुड़ा है, वह सिर्फ नेह से जुड़ा है। नेह के निर्झर में नहाने का मतलब अमरत्व को पा लेना और नश्वरता को उसमें विसर्जित कर देना है।

अमरता को देह के आवरण में देखते–देखते हमारी आँखें इतनी संकीर्ण हो गई हैं कि वे देह के बने रहने को अमरता और उसके निष्प्राण हो जाने को अमरता का अंत मानती हैं।

रीति भी यही चली आ रही है कि हम मानते हैं कि मर जाने का मतलब अमरता का खत्म हो जाना है। मगर अमरता को इतिहास के आवरण में देखो तो आँखों के देखने की परिधि और व्यापक होगी। हम पाएँगे कि अमरत्व तो मरने के बाद जन्मा है, कबीर में, नानक में, मीरा में, सूर में तुलसी में और तमाम दिव्य व्यक्तियों में जिन्हें हमने मानव न मानकर देवों की, देवियों की प्रतिष्ठा देकर पूज दिया है।

ये सारे दिव्य व्यक्तित्व नेह के निर्झर में नहाए हैं। मैं तो कुछ पलों के लिए प्रणामों की इस गंगा में डूबता हूँ। नेह के छींटे मुझे आह्लादित कर जाते हैं और इस आह्लाद में मैं अपनी अमरता पा लेता हूँ, लेकिन कबीर और मीरा तो उस गंगोत्री के निर्झर में अनवरत नहाए हैं, जिसने गंगा को जन्मा है, उनकी तो हर साँस आजीवन डूबी रही, नेह के निश्छल सलिल में, उनकी अमरता शाश्वत है, जैसा अतीत ने सँजोया। वे न मरे, न मरेंगे। उन्होंने कुम्भ स्नान भले न किया हो पर अमरता ज़रूर पा ली।

बेहतर हो, कुम्भ लगें और हर बारहवें साल क्यों, हर रोज़ लगें और क्यों तीर्थों पर लगें, घर–घर लगें, ऐसे कुम्भ जो पारम्परिक पाषाणी आस्था से मुक्त हों, जिनकी आस्था प्राणवान हो और प्रार्थना जीवंत। ये प्रार्थनाएँ विकास की हों, उन क्षितिजों को छूने की हों, जो अछूते हैं अभी तक। इन कुम्भों में बसी आस्था प्रेरणा के आलोक सूर्य के रूप में समाहित हो और धरती पर उपलब्धियों की किरणों के रूप में बिखर जाए।

क्यों अवंतिका सिर्फ एक रहे और क्यों सिर्फ क्षिप्रा इकलौती। क्या ये एकवचनी पुण्य प्रतीक, बहुवचनी बन हर घर को पवित्र नहीं कर सकते ?

इस वर्ष उज्जयिनी में कुम्भ लगा है। करोड़ों लोग निरंतर स्नान करने भागे जा रहे हैं। रेलगाड़ियों में बसों में जगह नहीं मिलती और रास्तों पर भीड़ का समुद्र उमड़ आया है। क्षिप्रा के तट से निहारो तो लगता है, उसके समानांतर मानवीय भीड़ की एक और उफनती क्षिप्रा बह रही है, आस्था के प्रस्तरों की क्षिप्रा।

अवंतिका में बहती क्षिप्रा के समानांतर एक पाषाणी क्षिप्रा के प्रवाह को देखा जा सकता है। यहाँ पत्थर नदी में नहीं बह रहे, पत्थरों की नदी बह रही है, लेकिन बस में, रेलगाड़ी में, कुम्भ स्नान करने जाते हुए सारे लोग सामूहिक होकर भी अकेले हैं। हरेक को अपने पवित्र होने की अपने अमर होने की चिंता और मोह है।

कोई कुम्भ यात्री अपने बगल में बैठे सहयात्री से नहीं पूछता कि तुम क्षिप्रा स्नान कर कुम्भ का पुण्य लूटकर इस निधि का करोगे क्या ? क्योंकि सभी परिग्रही हैं। हरेक इस निधि को पाकर सिर्फ अपने लिए सहेजना चाहता है। कोई नहीं चाहता कि पुण्य की इस निधि का एकीकरण हो। सब साथ हैं, लेकिन सब अकेले हैं।

क्षिप्रा के तट पर लगी भीड़ और कतार में स्नान करने जाते यात्री, ऐसे एकाकी सूनेपन का बोध कराते हैं, जो किसी गाँव की पगडंडियों की याद दिलाता है। वहाँ के शोर में सन्नाटा है और भारी हलचल में किसी सिपाही की सावधानी मौन मुद्रा। यह ऐसा मेला है, जहाँ हरेक अकेला है।

हमारा देश कई मायनों में अनोखा है। इतना बड़ा देश और आस्था के इतने हिमालय, लेकिन ये हिमालय अस्थिर हैं, अडिग नहीं। मौका आने पर पत्थर–पत्थर जुड़कर हिमालय हो जाता है और बाद में दूर–दूर तक रेत के महीन कणों में बिखर जाता है। आस्था यदि पत्थर

न होकर चूना बने, जो श्रद्धा की रेत के एक–एक कण को बाँध ले अपने में, तो ऐसे कई अडिग हिमालय खड़े हो सकते हैं, जो देश की ऊँची प्राचीर बन जाएँ, ऐसी प्राचीर, जो सच्चे धर्म की साक्षी हो, जिस पर खड़े रहकर हमारा बोध सच्चे ईश्वर को देख सके।

आज आस्था और श्रद्धा जड़ हो गए हैं। न तो वे जीवंत हैं न गतिशील। वे सिर्फ प्रतीक भर रह गए हैं अपने अस्तित्व के। उनका यह प्राणहीन अस्तित्व हर बारहवें वर्ष किसी गंगा, क्षिप्रा या गोदावरी के तट पर हिमालय बन खड़ा हो जाता है और बाद में फिर बारह वर्षों के अंतराल के लिए ढह जाता है, बिखर जाता है। आस्था अडिग होती है और श्रद्धा उमड़ती है। दोनों में भेद बड़ा बारीक सा है। इस भेद को न जानने की वजह से भ्रांतियाँ होती हैं। आस्था एक न डिगने वाले शाश्वत विश्वास का नाम है और श्रद्धा ऐसे नेहमय सागर का, जिसका फैलाव अनंत है। जिस पर तर्क के कोई पुल नहीं बाँधे जा सकते। आस्था घनीभूत है और श्रद्धा विस्तीर्ण। आस्था मंदिर में विराजी मूर्ति है और श्रद्धा उस मंदिर के प्रांगण में खिला सुरभित उपवन। आस्था सूरज है और श्रद्धा किरणों का स्वर्णिम जाल।

आस्था अमरकंटक का गौमुख है, जिससे श्रद्धा की ऐसी नर्मदा निकलती है, जो आगे चलकर किसी भेड़ाघाट पर अपने दूधिया प्रपात बिखेर देती है। आस्था उत्स है श्रद्धा का।

भ्रांति यही है कि हम स्रोत और स्रोतास्विनी को मिलाकर, जोड़कर देखते हैं। फर्क़ नहीं कर पाते गंगोत्री और प्रयागराज की गंगा के उद्दाम प्रवाह में। हमारा यही जोड़कर दोनों को देखना, उन्हें और हमारी दृष्टि को जड़ बना देता है। हिमालय के अडिग प्रस्तर और उसके अंचल में बिखरी रेत दोनों अलग–अलग हैं। हमारी दृष्टि इन प्रस्तरों को खंडित कर रेत में बदल देती है, इसलिए या तो सिर्फ हर बारहवें साल हिमालय खड़े दीखते हैं आस्था के या उसके बाद दीखती है, केवल रेत ही रेत।. आस्था को रेत में बदलने देना, आस्था और श्रद्धा दोनों के प्रति अन्याय है।

होना यह चाहिए कि हम दोनों को जोड़कर ज़रूर देखें, लेकिन यह जुड़ाव पक्का हो, स्थिर हो, प्राणवान और जीवंत हो और यह तभी होगा, जब हमारी आस्था हमारी श्रद्धा की बिखरी बालू को जोड़ने के लिए चूने का काम करेगी। तब दोनों हमेशा के लिए एक होंगे। आस्था और उसके प्रति समर्पित श्रद्धा दोनों कुछ अर्से के लिए मिलकर फिर बिखरेंगे नहीं। आस्था मूर्ति में होगी, आयतों में होगी, गुरुवाणी और प्रेयर में होगी, लेकिन उससे जन्मी श्रद्धा की परिधि में पूरी मानवता आएगी। ऐसा नहीं होगा कि आस्था मूर्ति में और आयतों में रहे, लेकिन श्रद्धा के दायरे में सिर्फ मोहन रहें मोहम्मद नहीं, रहीम रहें राम नहीं, ईसा रहें और बाक़ी कोई न रहे। श्रद्धा का विभाजन अंतहीन होगा।

जब श्रद्धा बँटती है तो यह बँटवारा बड़ा निर्मम होता है। यह बँटवारा सच्चा धर्म नहीं बाँटता, यह समूची मानवता के अंग ही अलग–अलग हिस्सों में बाँट देता है, फिर इस बँटवारे से जन्मते हैं आतंकवाद, बाबरी मस्जिद के विवाद और तरह–तरह की यात्राएँ, जो पोरस के हाथियों की तरह श्रद्धा के अपने सिपाहियों को ही रौंद डालती हैं।

कुम्भ के इस पर्व में, मैं क्षिप्रा के तट पर खड़ा लाखों की विराट जमदाग्नि को स्नान करते ज़रूर देख रहा हूँ, लेकिन आकंठ पाषाणी आस्था में डूबे लोगों के रूप में मुझे यांत्रिक–सी देहें भर दीखती हैं।

इन देहों पर मुझे कहीं नेह की बूंदों के छींटे दिखाई नहीं देते।

मैं उस कुम्भ की बाट जोह रहा हूँ, जिसके आने पर श्रद्धा के अमृत प्रवाह में अपनी अडिग आस्था को सँजोए कोई मीरा आपाद मस्तक स्नान करते कर्म के साक्षात ईश्वर को मोल ले लेगी, उसे समूची मानवता के बीच बाँटने के लिए और शाश्वत स्वरों में अपनी जननी को सम्बोधित करते हुए गा उठेगी :

माई री मैंने गोविंद लीन्हों मोल।

हीरों के मन जैसे देश को

माहेश्वर तिवारी की पंक्तियाँ गूँज रही हैं :

> दूर तक फैला हुआ तट
> चाँदनी में सो गया है
> मन नदी की द्वीप सा
> बिलकुल अकेला हो गया है

यह मन क्यों अकेला हो गया नदी के द्वीप–सा ? शायद इसलिए कि इस चंचल मन को कहीं स्थायी ठौर नहीं मिल पाते इसलिए वह घूम–फिरकर अकेला का अकेला रह जाता है। मन की यही नियति है। उसे अकेला ही रहना पड़ेगा। अकेले रहकर यह मन शांत हो जाता है। मगर यह शांति स्थायी नहीं होती, वह फिर डोलने को आतुर हो उठता है और जब डोल–डोलकर, घूम–फिरकर उसका मोह भंग हो जाता है तब वह फिर लौट आता है अपने अकेलेपन में। इस मोहभंग के भँवर में वह फँसा रहता है। कोई ठौर उसे स्थायित्व नहीं देता, चिर शांति नहीं देता। हर ठौर उसे अलग कर देता है और इस तरह मन की भटकन कभी खत्म नहीं होती। मन की कोई मंज़िल भी नहीं है। उसका कोई सफर, कोई यात्रा नहीं होती। भटकने वाले की क्या यात्रा और क्या गंतव्य ? इस यायावर की कोई कहानी भी नहीं, कोई इतिहास भी नहीं।

हर तरह की अनुभूतियों को यह समेटा करता है। कभी हर्ष से विभोर हो पुलकित हो जाता है तो कभी विषाद की झील में ऐसा डूबता है कि सतह घबरा जाती है। मृगछौने की तरह कुलाँचे भरने वाला मन जब अकेला होता है तो स्थिर होकर रह जाता है पाषाण प्रतिमा की तरह।

मन एक उड़ने वाले पत्थर का नाम है। जब वह उड़ उड़कर भटकता है तो उसकी कोई मंज़िल नहीं होती और जब वह भटक भटक स्थिर हो जाता है तो उसे उसकी मंज़िल मिल जाती है। वह किसी गुरुत्वाकर्षण से बँधा नहीं रहता। मन की अंतिम नियति उसकी निस्संग एकाकिता है।

इस मन ने बहुत कुछ रचा। मोह रचा, माया रची, माधुर्य रचा, ममता रची, से रस तक, गीत से गंध तक, बिछोह से संग तक, और रंग से अंग तक इस निस्संग मन ने रचे लेकिन यह सब कुछ रचकर खुद बैरागी–सा निपट अकेला रह गया। "जैसे कोई मंदिर गाँव के किनारे"

कबीर बोले थे :

> मन के हारे हार है, मन के जीते जीत
> पारब्रह्म को पाईए मन की ही परतीत

कबीर बादशाही तबियत के मस्तमौला फक़ीर थे। उनकी सबसे बड़ी पूँजी थी मन। उनका 'मनुआ' हमेशा डोलता फिरता था, टोह लेता रहता था, खबर लेता रहता था और खबरदार भी करता रहता था। कबीर ऐसे पहले और आखिरी संत थे जिन्होंने कभी मन को मारा नहीं, मन को जीता भी नहीं बल्कि मन ने जो कहा वह किया। लोग मन को मारकर परमब्रह्म पाते हैं। कबीर ने मन को ही परमब्रह्म का पर्याय मान लिया। मन की ऐसी पूजा करने वाला शायद ही कोई दूसरा भक्त हुआ हो। जगत से सारे नाते उनके मन की नज़रों में मिथ्या थे। :

मन फूला–फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे।

लेकिन कबीर सरीखे मन नहीं हैं। कबीर के जैसा एक मन भी हो तो धरती की फिज़ा बदल जाए। लोग अपने मन कुछ बदल तो बहुत कुछ बदल जाए। मगर प्रश्न यही है कि :

सृष्टि के ओ शिल्पी क्यों तेरी प्रतिमाओं की,
सूरतें बदलती हैं, मन नहीं बदलता है।

कबीर ऐसे संत थे जिनकी कोशिश थी कि लोगों के मन बदलें। मगर कबीर की विवशता थी कि वे सिर्फ एक ही जीवन जी पाए और फिर कोई दूसरा कबीर जन्म नहीं पाया। कबीर का कोई सच्चा अनुयायी नहीं बन पाया। कबीर के बाद यदि उन्हें आत्मसात कर लेने वाला कोई एक भी शख्स पैदा होता तो बहुत कुछ बदल सकता था।

कबीर से बड़ा इतिहास में कोई मन का पुजारी नहीं हुआ। आज मन को पूजने वाले चाहिए। मन की बात मानने वाले चाहिए। मन को मारने वाले या उसे नियंत्रित करने वाले नहीं चाहिए। यह बड़ी भ्रांति है कि मन तृष्णाओं से भरपूर हुआ करता है और वह सही रास्ते से भटका देता है।

यह भ्रांति उन तथाकथित साधकों की देन है जो तृष्णाओं से भरपूर हैं लेकिन विवश हैं एक नियंत्रित जीवन जीने को। तृष्णा के मन से सरोकार नहीं हैं। तृष्णाएँ अपने आप में स्वतंत्र हैं और वे ही पथ से भटकाती भी हैं। मन तो ऐसा सच्चा साधक है अपने आप में कि वह सारे रास्ते टटोलकर अंत में खुद बखुद सही रास्ते पर आ जाता है।

संसार में जितने महान लोग हुए वे वही हैं जिन्होंने मन पर भरोसा रखा और इस मन ने उन्हें उनकी मंज़िल तक पहुँचा दिया।

इस मन ने सारे क्षितिज छुए और अंत में बैरागी बन उस पथ को चुन लिया जिस पर उसे आगे जाना था।

वास्तव में मन तो सागर है। ऐसा सागर जो भरा भी रहता और रीत भी जाता है। मेरे गुरु गाया करते थे :

"सागर होकर भी रीत गया है मन
अब झरनों से कैसे झरे नयन"

मैं तब छोटा था। मैं सिर्फ उन्हें गुनगुनाते देख सकता था। इन पंक्तियों को लय में सुनना बहुत कर्णप्रिय लगता था लेकिन इनका पूरा अर्थ तो मैं आज भी नहीं समझ पाया। इतनी अद्‌भुत व्यंजना है इन पंक्तियों में कि अर्थ और व्याख्याओं का कोई ओर–छोर नहीं जान पड़ता। लेकिन इन पंक्तियों से मन का वैराट्य और बैराग्य दोनों समझ में आता है।

मन में कोई मानक नहीं है। उसे मापने के कोई पैमाने नहीं हैं। वह अपरिचित है। उसकी न तो कोई ऊँचाई है, न गहराई। वह कितना अथाह और कितना उत्तुंग होता है यह कोई नहीं जानता। कितनी परतें हैं मन की यह भी कोई नहीं जानता। जब से के अदृश्य अस्तित्व को मानव जानने लगा तब से इस मन के जाने कितने विश्लेषण हुए, व्याख्याएँ हुईं लेकिन निष्कर्ष कुछ भी हासिल नहीं हुआ। मन से मानव यही कहता रहा, "मन रे तू काहे न धीर धरै" और मन! उसने कभी यह पता ही नहीं लगने दिया कि कब उसने धीरज रखा और कब खो दिया। मन तो भीड़ के साथ भी रहा और भरी भीड़ में अकेला भी रह गया। बड़े विरोधाभासों का संगम है यह।

इस मन को जितना टटोलने की कोशिश करेंगे वह उतना ही रहस्यमय होता जाएगा, उतना ही गूढ़, उतना ही जटिल। इसलिए मन के हाथों अपने आपको सौंप देना ही ठीक है। उस पर विश्वास करना ही अपने आपको पा लेना है। मन के हाथों अपने आपको सौंप देने से सारी दुविधाओं और आशंकाओं का अंत होगा।

आज मेरा मन भी डोरा डालकर अपना ठौर ढूँढ़कर बैठ गया है। यह उड़ता हुआ पत्थर घूम आया चारों दिशाओं में और फिर चुपचाप आकर बैठ गया। चुपचाप बैठकर वह आकलन कर रहा है अपना और मेरा भी। सब कुछ रचकर बैरागी–सा निपट अकेला बैठा है। यह वही जानता है कि उसने क्या–क्या दिया और अंत में उसे किसने लूट लिया। वह माणिक वर्मा की पंक्तियाँ गुनगुना रहा है :

हीरों के मन जैसे देश को
मिट्टी के सौदागर लूट गए
पत्थर का ताजमहल याद रहा
रिश्तों के शीशमहल टूट गए

कोसना बंद : कोसना शुरू

अब बंद होना चाहिए यह कोसना। देश को कोस लिया, बुद्धिजीवियों, मतदाताओं, सरकारों, पहरेदारों, संत्रियों, मंत्रियों में लेकर सचिव और पटवारी तक को कोस लिया। न्याय को भी कोस लिया, अन्याय को भी, अँधेरे को भी, उजाले को भी, पानी को भी मरुस्थल को भी। हर समानार्थी और हर विरुद्धार्थी को कोस लिया। शायद ही कोई ऐसी चीज़ बची हो जिसे न कोसा जा चुका हो। और तो और कोसते–कोसते, कोसने को भी कोसने लगे। एक बीमारी–सी लगी है जिसका कोई निदान नहीं क्योंकि हम बीमारी को और उसके निदान को दोनों को कोसते हैं। सारे अस्पताल बेकार हैं, डॉक्टर निठल्ले हैं और रोगी भी ऐसे हैं जिन्हें ठीक होना नहीं आता।

इसलिए अब बंद होना चाहिए। कोसते–कोसते ऊब होने लगी। चालीस बरस से ज़्यादा हो गए स्वतंत्रता को कोसते हुए और उसके पहले की जाने कितनी सदियाँ बीत गई गुलामी को कोसते। यह सिलसिला कभी तो खत्म हो। कौन खत्म करेगा इसे। एक पीढ़ी इसकी ज़िम्मेदारी दूसरी आने वाली पीढ़ी पर डाल देती है और यह क्रम कभी खत्म नहीं होता। कोसना कर्म मान लिया गया है। ऐसा पुनीत कर्म जिसे निबाहे बिना शायद मुक्ति नहीं मिलेगी।

कोसने का सीधा अर्थ बिना कर्म किए अपने आप पर रोना है। यदि हम स्वार्थपरक राजनीति को कोसते हैं या भ्रष्ट तंत्र को कोसते हैं तो उसका सीधा अर्थ यह है कि हम अपनी पौरुषहीनता पर विलाप करते हैं। यदि इसे सुधारने की या इसे बंद कर देने की क्षमता होती तो पहले यह सुधार किया जाता, रोया नहीं जाता। रोते इसलिए भी हैं क्योंकि इनमें कहीं न कहीं हमारी भी भागीदारी है। अपना स्वार्थ सध जाने तक कोसना या रोना बंद रहता है लेकिन जैसे ही किसी दूसरे का स्वार्थ सधने लगा और हम उससे वंचित रहे, रोना शुरू हो जाता है। यह सिलसिला अंतहीन है। यह भी कहा जा सकता है कि यह तो मानवीय प्रवृत्ति है। इसे रोका कैसे जाए ? हरेक का अस्तित्व अपने स्वार्थों पर टिका है। यदि ऐसा न हो तो फिर संसार ही क्या ? बिलकुल वाजिब बात है। लेकिन मानव की क्या सिर्फ यही एक प्रवृत्ति है ? क्या हमारा मनोविज्ञान कुछ ऐसा है कि एक प्रवृत्ति पर हम अंकुश नहीं लगा सकते ? क्या संसार सिर्फ अपने–अपने निहित स्वार्थों से चलता है ? शायद ऐसा है नहीं लेकिन इसे मान लिया गया है और इसलिए मान लिया गया है क्योंकि ऐसा मान लेने पर हम हर तरह से सुरक्षित हो जाते हैं, हमारी सुविधाएँ बनी रहती हैं. हमारे अस्तित्व के औचित्य बने रहते हैं।

ज़रूरी नहीं कि हर आदमी साधु हो जाए, अपने जीवन के सहज आचरण छोड़ दे, वह पद्धति छोड़ दे जिसके सहारे वह जीवनयापन करता है मगर वह इतना तो कर सकता है कि अपने आसपास के घेरे से कुछ ऊपर उठे। अपनी क्षमताओं को सामूहिक रूप से सँजोने की कोशिश करे, प्रतिरोध कर पाने के लिए तैयार करे अपने आपको, अपने में झाँके भी, भीड़ में

शामिल होकर सिर्फ नारे भर न लगाए बल्कि कोशिश करे यह सोचने की कि वह इन नारों का अर्थ समझता भी है या नहीं और यह भी कि वह भीड़ में शामिल है क्यों ?

कोसना वहीं से शुरू होता है जब हम अपने गिरहबान को छोड़कर दूसरों के गिरहबानों में झाँकने की कोशिश करते हैं। अपने आप में झाँकें तो पहले अपने आपको कोस लेंगे और चुप हो जाएँगे, यह भी समझ जाएँगे कि दूसरों को कोसना व्यर्थ है क्योंकि उनके गिरहबानों में वही सब कुछ है जो हमारे अपने गिरहबान में है। मगर ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि हम ऐसा कर नहीं पाते बल्कि करना नहीं चाहते। हमारे सौ गुनाह नहीं और सामने वाले का एक गुनाह उसकी शामत है। इसे दृष्टिकोण का फर्क़ नहीं मानना चाहिए क्योंकि सबकी दृष्टि का आधार आजकल उनके अपने निजी स्वार्थ हो गए हैं और इन्हीं स्वार्थों के आधार पर कोण बदलने लगे हैं। दृष्टिकोण जैसा शालीन शब्द इस असभ्यता को ढँकने के लिए दे दिया गया, लोलुपता को कोण कहने लगे।

सच्चाई को स्वीकारने को कोई तैयार नहीं क्योंकि कोई अपना सोच बदलने को तैयार नहीं। सोच बदले तो दिशा बदले, कोण बदले, कर्म पैदा हो रास्ते मिलें, आगे बढ़ने का संकल्प मिले और यदि यह सब मिल जाए तो फिर कोसने की फुर्सत किसी को न मिले। लेकिन थोड़े बहुत अपवादों को छोड़कर ऐसा हुआ नहीं। ऐसा क्यों नहीं हुआ, यदि इस पर विचार करने बैठेंगे तो फिर एक दूसरे को कोसना शुरू हो जाएगा। सोच इसलिए नहीं बदला क्योंकि हमने सोच को बदलने की कोशिश ही नहीं की। इस भय से कि यदि ऐसी कोशिश की तो हम मारे जाएँगे। व्यक्तिगत स्तर पर सोच को बदलने का मन सभी ने बनाया लेकिन सामूहिक रूप से इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। इसलिए सोच सिर्फ सोच ही रह गया और व्यक्त होता रहा सिर्फ कोसना।

आत्मविश्लेषण की गहराई में कोई उतरना नहीं चाहता। जो गहनता में उतर जाते हैं वे या तो मौन हो जाते हैं या फिर ऐसे कबीर जिनकी वाणी आजीवन कोसने के झूठे आडम्बरों को कोसती रही। कबीर से बड़ा कोई कोसने वाला इतिहास में पैदा नहीं हुआ लेकिन उनके कोसने में बड़ी निश्छलता थी, बड़ा निःस्वार्थ और निस्संग था उनका कोसना। वे जगजाहिर होकर कोसते थे, समाज को और अपने आपको भी। कबीर का कोसना इसलिए हमारी परम्परा का मील का पत्थर बना क्योंकि उन्होंने अपने को बचाकर दूसरों को नहीं कोसा बल्कि पहले अपने आप पर प्रहार किए फिर समाज पर। कोसने के मनोविज्ञान के पीछे जो व्यक्तिगत स्वार्थ की ग्रंथी विद्यमान रहती है उन्होंने सबसे पहले उसी ग्रंथी से मुक्ति पाई। इसलिए आज भी कबीर के कोसने की निश्छलता और निर्मलता को मापने के कोई पैमाने नहीं बन पाए। उनका कोसना इतना कड़वा है कि उसे सिर्फ इसीलिए झेल जाना पड़ता है क्योंकि उसमें कहीं कोई मिलावट नहीं है। यही वजह है कि कबीर ने सारे पाखंडियों को गाली दी लेकिन किसी की हिम्मत नहीं हो पाई कि कोई कबीर को गाली दे सके।

ऐसी स्थिति में सिर्फ यही दो विकल्प हैं कोसने की वृत्ति से मुक्त होने के लिए; पहला तो यह कि हम अपने आप में झाँककर मौन हो जाएँ। यदि ऐसा हो पाया तो सभी मौन हो

आत्ममंथन करेंगे और कोसना अपने आप बंद हो जाएगा और दूसरा यह कि अपने–अपने निजी स्वार्थों से परे होकर हम कबीर बनने की कोशिश करें। यदि ऐसा साहस पैदा हो गया कि हम अपने गिरहबान में झाँककर खुद अपने आपको पहले कोसने लगें तो यह खुद का खुद को कोसना बड़ा रचनात्मक होगा। दूसरों को शिकायत ही नहीं रहेगी कि उन पर उँगली उठ रही है या यदि शिकायत भी हुई कि उन्हें कोसा जा रहा है तो उनमें इतना साहस ही नहीं होगा कि वे आप पर उँगली उठा सकें क्योंकि आपका कोसना निश्छल और निर्मल होगा कबीर की तरह।

इसलिए या तो यह कोसना पूरी तरह बंद होना चाहिए या शुरू होना चाहिए तो कबीर की तरह।

रास्ते, मंज़िल, आइने और खुद

अभी उर्दू का एक बढ़िया शेर पढ़ा :

"अब थकन पाँव की ज़ंजीर बनी जाती है
राह का खौफ़ ये कहता है कि चलते रहिए"

चलना तो अविराम है, अनवरत है। चलने के बीच में विश्राम भी है लेकिन थकान भी ऐसी क्रिया का नाम है जो चलने को विराम दे सकती है, रोक सकती है इसलिए रास्ते खौफ भी हैं और प्रेरणा भी। ऊर्जा हो, शक्ति हो तो रास्तों की दूरी कोई बाधा नहीं होती, रास्ते प्रेरणा बन जाते हैं। मगर जब शक्ति क्षीण होने लगती है रास्ते खौफ भी बन जाते हैं।

तब इन रास्तों का मतलब क्या है ? आदमी की ज़िंदगी की आखिरी मंज़िल तो मौत है। फिर रास्तों का यह तनाव क्यों ? ग़ालिब फरमा रहे हैं :

कोई उम्मीद बर नहीं आती, कोई सूरत नज़र नहीं आती
मौत का एक दिन मुअय्यन है, रात भर नींद क्यों नहीं आती।

दूसरी तरफ उपनिषद कहते हैं "चरैवेति, चरैवेति" चलते रहो, चलते रहो और रवींद्रनाथ कहते हैं "एकला चलो रे", अकेले चलते रहो।

इस चलने को लेकर बड़ी व्याख्याएँ हैं, बड़े दर्शन हैं, बड़ी प्रेरणाएँ हैं और मायूसी का आलम भी। ऐसा भी क्या चलना जिसका कोई अंत न और ऐसा भी क्या चलना कि मालूम ही न हो कि सफर कर कौन रहा है, बकौल शायर :

"चलने को चल रहा हूँ, पर इसकी खबर नहीं,
मैं हूँ सफर में या मेरी मंज़िल सफर में है।"

वास्तव में चलना मंज़िल से, लक्ष्य से जुड़ा हुआ है और रास्ते मंज़िल से। बिना रास्ते के मंज़िल नहीं मिलती और वह मंज़िल हो ही नहीं सकती जिस तक बिना रास्तों के पहुँचा जा सके।

मौत से ईश्वर तक की मंज़िलें बिना रास्तों के नहीं मिलतीं। रास्ते अनिवार्यता हैं जीवन की और मृत्यु की भी और जब रास्ते हैं तो वे बैठे रहने के लिए नहीं हैं, वे सिर्फ चलने के लिए हैं। बैठने के लिए मंदिर हैं, मस्जिद हैं, गुरुद्वारे हैं, चर्च हैं, पर्वत के शिखर हैं, अपने–अपने घर हैं लेकिन रास्ते तो सिर्फ चलने के लिए हैं। ये तो माध्यम हैं पहुँचने के लिए मंज़िल तक।

इसलिए आज मंज़िल भले गौण हो गई हो, रास्ते महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। सार्थकता रास्तों की है, मंज़िल की नहीं। और रास्तों की सार्थकता इतनी बढ़ गई है कि लोग अब रास्तों

में ही मंज़िलें ढूँढ़ रहे हैं, पा रहे हैं। कोई जनपथ पर चलते–चलते राजपथ पर पहुँच जाए तो उसका चलना सार्थक हो जाता है।

हम देख रहे हैं रास्तों को अवरुद्ध होते हुए क्योंकि जो लोग चलने के लिए मंज़िल तय करके निकले थे वे अब रास्तों पर ही बैठने लगे हैं, बल्कि इनके पीछे के लोग खड़े हैं उनके मार्ग अवरुद्ध हैं।

रास्ते, पथ चलने के लिए बने लेकिन लोग उन पर बैठने लगे। रास्तों में ही मंज़िल पा ली उन्होंने तो अब उन्हें चलने से क्या सरोकार ?

जब रास्ते ही मंज़िल बन गए तब मंज़िल के मायने क्या ? इसलिए अब रास्तों पर बहुत भीड़ है। लोग बैठ गए हैं रास्तों पर इसलिए अब जिन्हें रास्तों पर चलने की जगह नहीं मिल रही वे अब दूसरे रास्ते खोजने लगे हैं। कुछ लोग जुट गए हैं दूसरे रास्तों को बनाने में। रास्ते खोजने और नए रास्तों को बनाने में इतने मशगूल हैं कुछ लोग कि वे अब भूल गए हैं कि उनकी मंज़िल क्या है ?

रास्तों पर बैठे हुए, रास्तों को बनाते हुए और नए रास्तों की तलाश करते हुए लोग भूल गए कि उनकी मंज़िल क्या है ? वे लक्ष्य भूल गए, चलना भूल गए और याद रखने लगे रास्तों को।

वे अब सिर्फ इतिहास की सम्पदा हैं जिन्होंने लक्ष्य याद रखे, चलना याद रखा, मंज़िल याद रखी। रास्ते जिनके लक्ष्य नहीं रहे, उनकी परम्परा लम्बी है। राम से गांधी तक की परम्परा के ये मोती अब इतिहास के अध्यायों से सिमटे हैं लेकिन न तो इनकी आभा अब आकृष्ट करती है न इनकी कांति कोई प्रेरणा जन्मती है। रास्तों पर बैठे लोग इनका नाम भर लेकर चलने की बजाय फिर उठकर वहीं बैठ जाते हैं। गांधी की याद कर चलने का यत्न सिर्फ उठकर वहीं बैठने तक में सिमट जाता है।

मेरी आँखों में दृश्य उभरता है उन लोगों का जो रास्तों पर चिपककर बैठे हैं और इन अपराजित पुरुषों के हर पुण्य स्मरण के दिन रास्तों से चलने का अभिनय करते हुए उठ खड़े होते हैं। आसपास की भीड़ इनकी जय–जयकार करती है, मालाएँ पहनाती है और थोड़ी देर बाद ये फिर उसी रास्ते पर माला पहने बैठ जाते हैं, अगले पुण्य स्मरण का दिन आने तक।

इनके लिए उठना, और चलने का अभिनय करते हुए, मालाएँ पहनकर बैठ जाना ही अपनी मंज़िल पा लेना होता है। स्थिति अब यह भी बन गई है ज़्यादातर लोगों के लिए कि ये रास्तों पर माला पहने महापुरुष ही उनकी मंज़िल हो गए हैं।

इन मंज़िलों तक पहुँचकर लोग अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहते हैं, कोई पद चाहने लगता है, कोई पीठ।

रास्तों पर बैठे ये लोग ऐसे विराजे हैं जैसे मंदिर के गर्भ में विराजी अटल मूर्ति। इन मूर्तियों ने अपने आसपास परकोटे खींच रखे हैं। किसी ने साहित्य का, किसी ने राजनीति का, किसी ने समाजसेवा का।

दूर से खड़े होकर देखो तो असली मंज़िल कहीं नज़र नहीं आती। नज़र आते हैं रास्ते, उन पर सजी मूर्तियाँ, उनके आसपास खिंचे परकोटे। सफर कहीं दीखता नहीं। लगता है गति कहीं इन्हीं परकोटों में बंदी बना दी गई हो या वह भी शामिल हो गई हो इस अपार भीड़ में।

कभी–कभी कुछ अनजान इक्के–दुक्के ऐसे भी दिख जाते हैं जो इस भीड़ को, परकोटों को और मूर्तियों को लाँघने की कोशिश करते हैं लेकिन वे धकिया दिए जाते हैं, बाहर कर दिए जाते हैं, रास्तों से बहुत दूर–दूर तक खदेड़ दिए जाते हैं, लापता कर दिए जाते हैं।

रास्तों पर जमा ठहराव उनकी एक भी लहर बरदाश्त नहीं कर पाता। बात चलने से चली और चलना रास्तों में खो गया। बात मंज़िल की चली और पाया की रास्ते ही मंज़िल हो गए। बात सफर की चली और गति के गुम जाने पर खत्म होने लगी। जहाँ से चले वहीं पहुँचे। शायद पृथ्वी को गोल यूँ ही नहीं कहा जाता। पृथ्वी केवल भौगोलिक रूप से गोल नहीं है, गोल इसलिए भी है कि यहाँ जहाँ से आरम्भ होता है घूम–फिरकर अंत भी वहीं हो जाता है।

सवाल यह है कि यदि भूगोल नहीं बदला जा सकता तो कम से कम वर्तमान बदला जा सकता है, भविष्य बदला जा सकता है, भविष्य की धरती की नियति गोलाई में क़ैद न रहे इसके प्रयास किए जा सकते हैं। धरती ऐसी बनाई जा सकती है जिसके रास्तों पर गति हो, भीड़ नहीं। वह ऐसी बनाई जा सकती है जहाँ परकोटे न हों, क़ैद न हो, जहाँ मंज़िल साफ नज़र आए और राहगीरों को कोई अवरोध न रोक सके।

कहीं ठहराव न हो जिसे परहेज हो लहरों से। धरती ऐसी हो जिस पर गति की तरंगें उठें और प्रेरणाओं का सागर हिलोरें ले।

लेकिन ऐसा हो कैसे ? आशाओं और आकांक्षाओं के आकाश निस्सीम हैं। ऐसे आकाश जिन पर इंद्रधनुष तो उग जाते हैं, उनकी छटा बिखर जाती है क्षितिज पर लेकिन जो धरती पर उतर नहीं पाते। उपदेशों के घनेरे बादल घुमड़ते हैं, उनमें बिजलियाँ कौंधती हैं लेकिन धरती सूखी की सूखी रह जाती है।

बदलाव के लिए बहुत कुछ होता दिखाई देता है लेकिन कुछ बदलता नहीं, ठीक न्याय की तरह जो होता हुआ दीखता है लेकिन होता नहीं। इसलिए आज न्याय भी मिलने की नहीं छीन लेने की चीज़ हो गया।

अन्याय पर न्याय छीन लो या चलने के अवतार पुरुष के रूप में पुजते रहकर बैठे भर रहो। दोनों स्थितियों में कोई फर्क़ नहीं है।

इन परिस्थितियों से निपटने का कोई विकल्प नहीं है। विकल्प खोजना, एक नई खोज में लग जाना भर और असलियत को भूल जाना भर है इसलिए इस सवाल का सिर्फ एक ही जवाब है और वह जवाब है सार्थक संघर्ष जिसकी अंतिम परिणति यही हो कि ठहराव के तटबंध टूटें। बिना इन तटबंधों के टूटे न तो कोई लहर उठ सकती है, न कोई ऐसा सागर जन्म सकता है जिसमें हिलोरें उठने लगें और न ही कोई गति के अश्व दौड़ सकते हैं।

जहाँ तक संघर्ष का सवाल है, लोग कहते हैं वह तो हो रहा है, हर क्षेत्र में हो रहा है। संघर्ष तो ऐसी चिरंतन प्रक्रिया बन गया है जो थमती नहीं फिर इस स्थिति का जवाब संघर्ष कैसे हो सकता है ? यदि संघर्ष के कारण यह स्थिति दूर हो सकती तो कब की चुकी होती। मगर वास्तविक़्ता कुछ और है। आज जो संघर्ष के नाम पर हो रहा है, वह संघर्ष नहीं है, वह तो विकल्पों की खोज है। ये तरह–तरह के संघर्ष सिर्फ विकल्प बन गए हैं। ये बदलाव को लाने की बजाय बदलाव के विकल्प भर बन गए हैं। ये सिमट गए हैं अपनी–अपनी वैयक्तिकता में स्वार्थों में, आवरणों में।

संघर्ष हैं, हो रहे हैं लेकिन सार्थक संघर्ष नहीं हो रहा। सार्थक संघर्ष तो वह है जो अपने आपसे हो। जिसमें योद्धा भी तुम्हीं रहो और तुम्हारे सामने शस्त्र लिये खड़े भी खुद रहो। यह द्वंद्व तो खुद से, खुद का है और जो इसमें विजयी हो जाता है उसी की खुदी सर्वोपरि हो जाती है जिसके लिए इकबाल ने कहा था :

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तक़दीर से पहिले,
खुदा बंदे से पूछे कि बता, तेरी रज़ा क्या है ?

इसलिए तक़दीर को बनाने वाले को अपनी मर्ज़ी का गुलाम बना लेना अपने संघर्ष से, यही सार्थक संघर्ष है। और इसी सार्थक संघर्ष की नियति गति है, मंज़िल है, साफ रास्ते हैं, ठहराव की हार और हिलोरों की जीत है।

खुद का खुद से संघर्ष हो यह बात अटपटी ज़रूर है लेकिन है बड़ी सार्थक, बड़ी सच्ची। हमारी बुलंद खुदी का राज इसी में छुपा है। हम अपने आपमें एक नहीं दो हैं। एक तो वह हैं जो होने चाहिए और एक वह जो होने नहीं चाहिए थे लेकिन हो गए। संघर्ष होता है लेकिन इन दोनों के बीच नहीं होता बल्कि ये दोनों मिलकर तीसरे के विरुद्ध लड़ते हैं। यह लड़ाई सार्थक नहीं हो सकती। स्वयं में विरोध को लिये दूसरे से लड़ना, संघर्ष का अभिनय है, सच्चा या सार्थक संघर्ष नहीं है।

द्वंद्व तो इन दोनों के बीच होना ज़रूरी है जो आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं। इस द्वंद्व से हम बचते हैं, इसलिए हमारी खुदी बुलंद नहीं होती। संघर्ष सार्थक नहीं हो पाता।

इसलिए में आदमक़द आइने के सामने खड़ा होकर अपने आपको निहारता रहता हूँ। मुझे अपने ही दो प्रतिबिम्ब नज़र आने लगते हैं। एक दूसरे के सामने खड़े हुए मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब इन प्रतिबिम्बों की लड़ाई में आइना दरक जाए। मुझे इन टूटे दर्पणों की

दुनिया की तलाश है। मुझे अपने ही प्रतिबिम्बों की लड़ाई में टूटे हुए दर्पणों के टुकड़े चाहिए। मैं ऐसे साबुत दर्पण नहीं चाहता जिनमें सिर्फ एक प्रतिबिम्ब दीखे। दर्पण के टुकड़ों में झलकते अक्स ही मेरी असलियत हैं।

बीते बरस, आए बरस

तुम फिर बीत गए मेरे बरस। बीत जाना ही तुम्हारी नियति है। तुम सिर्फ अतीत ही बने रह सकते हो। तुम भविष्य नहीं बन सकते। भविष्य शायद तुम बनना भी पसंद न करो क्योंकि तुम आशंकित रहते हो उसके प्रति।

तुम्हारी पूँजी तो सिर्फ वर्तमान है, जिससे व्यवसाय कर तुम अपनी जीविका चलाते हो और जब वह व्यवसाय बंद हो जाता है तो यह पूँजी अतीत के बैंक में रख दी जाती है जिसके ब्याज से तुम इतिहास के नगर में एक छोटा–सा घर बनाकर रहते हो।

आज तुम्हारी दुकान पर ताला डल गया। इतिहास के नगर में तुम्हारा घर तैयार है जिसमें तुम गृह प्रवेश करोगे और एकाकी जीने लगोगे। तुम बहुत कम प्रासंगिक रह पाओगे। लोग विस्मृत कर देंगे तुम्हें, तुम्हारी याद किन्हीं संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में उठा करेगी तब किसी मेहमान कलाकार की तरह कुछ पलों के लिए तुम पर्दे पर आओगे और फिर ओझल हो जाओगे।

जब तुम बीत जाते हो तो दुनिया तुम्हारी सफलता और असफलता का आकलन करती है। ताज्जुब की बात है कि यही दुनिया तुम्हारे दिनों को सँवारने में कोई योगदान नहीं देती। तुम अपने पौरुष से जो कुछ हासिल कर पाए बस उस पर उँगली उठा देती है। तुम कुछ कह भी नहीं सकते क्योंकि दुनिया की यही रीत है और दुनिया चाहे अपने आपको तोड़ दे अपनी रीत नहीं तोड़ सकती।

तुम्हारे बीतने पर सब तुम्हें कोसने लगते हैं। यह कोई नहीं सोचता कि तुमने अपने हर दिन को बेहतर बनाने के लिए कितनी कोशिशें कीं। लोग यही समझते हैं कि सूरज अपने आप उग आता होगा। उन्हें शायद यह नहीं मालूम होगा कि तुमने जाने कितने सूरज तराशे होंगे और रौशनी की गंगा को कितनी तपस्या के बाद इस धरा पर उतारते रहे होंगे। तुम बड़े अभागे भागीरथ हो। गंगा का तो नामकरण भागीरथ के नाम पर हो गया लेकिन तुम्हारी कोशिशों से उतारी गई रौशनी की गंगा पर तुम्हें छोड़ सबके नाम लिखे हैं।

शायद तुम्हें याद हो, आज से 365 दिन पहले जब पहले पहल तुम इस धरती पर उतरे थे, तब कितना सम्मान हुआ था तुम्हारा। तुम्हें हाथों हाथ उठाया गया था। कितना जश्न मनाया गया था। वे प्याले खाली ही नहीं हो रहे थे जिनमें तुम्हारे आने की खुशी में शराब छलक रही थी लेकिन आज जब तुम जा रहे हो वही प्याले तुम्हारा नाम सुनने को तैयार नहीं। वे फिर आज लबरेज़ हैं मगर तुम्हारे लिए नहीं, उनकी खुशी का सबब है आने वाला बरस। प्याले बड़े बेवफा और स्वार्थी होते हैं। वे कभी अतीत का साथ नहीं देते। वे आने वाली उम्मीदों के सम्मान में छलकते। गुज़री आशाओं के लिए उनके मन में कोई जगह नहीं होती। अच्छा हुआ जो आज तुम्हारा भरम टूटा। भरम जितनी जल्दी टूट जाए उतना अच्छा होता है। अब तुम बिना किसी अपेक्षा के जीओगे और यही जीवन का सबसे बड़ा वरदान है। वर्ना जाने

कितनी ज़िंदगियाँ अपेक्षाओं के भरम में अपेक्षाओं के बीच जीते–जीते खत्म हो जाती हैं। तो अलबिदा मेरे बीते बरस। जाओ अपने घर में और संदर्भों की राह देखो।

मैं तुम्हें जाते और आने वाले बरस को आते देख रहा हूँ। कितना छोटा–सा है यह। नन्हा, गुदगुदा और अनजान। हौले–हौले ठुमकता चला आ रहा है। उसे गुमान नहीं है आने वाले समय का। शायद वह नहीं जानता कि आजकल के बरसों को पैदा होते ही प्रौढ़ हो जाना पड़ता है। आजकल के बरसों का कोई शैशव नहीं होता, कोई जवानी नहीं होती। हादसे इतनी तेज़ी से घटते हैं कि उन्हें तुरंत प्रौढ़ हो जाना पड़ता है। शायद वह नहीं जानता कि जो लोग आज उसके आने की खुशी में जाति, धर्म और भाषा को भूलकर बड़े प्यार से उसकी अगवानी कर रहे हैं, कल वे ही अपने कारनामों से उसे रक्तरंजित कर देंगे। उसे नहीं मालूम कि उसके तराशे हुए सूरजों को लहू से रँगने में यही लोग पूरी ताकत से जुटेंगे और कोशिश करेंगे कि इस बरस की रौशनी की कोई चादर बेदाग़ न रहने पाए।

बरस चाहे कोई हो, आने वाला या जाने वाला, बड़ा भोला और निश्छल होता है। वह तो समय की मिट्टी को रूँधकर दिनों के रूप में हमारे सामने रख देता है। फिर इस मिट्टी से हम कौन–सी और कैसी मूरत बनाएँ या इस मिट्टी को बेवजह बहा दें। यह हम पर निर्भर करता है। हाल के इतिहास की गवाही है कि इस मिट्टी से हमने कोई रूपहली मूरतें नहीं गढ़ीं। हमने या तो इस मिट्टी को बहा दिया या हिंसक दानवों की भयावह मूरतें गढ़ डालीं, जिन्हें देखकर हम खुद ही डरते हैं।

बरस तो बहुत मिन्नत करता है कि इस मिट्टी से रूपहली मूरतें गढ़ी जाएँ, क्योंकि उसे भी तो इतिहास के नगर में अपना मकान बनाकर इज़्ज़त के साथ रहना है। लेकिन हम उसके गिड़गिड़ाने पर ध्यान नहीं देते और जुनून में इस मिट्टी से दैत्यों की मूरतें गढ़ते जाते हैं। बरस अभिशप्त होता है यह झेलने को। जिस मिट्टी को उसने बड़े नेह से रुँधकर हमारे सामने रखा वही मिट्टी भयावह आकारों में हमने बदल डाली। यह भी कितनी विडम्बना है कि हम बड़ी उत्सुकता के साथ नए बरस के आने की बाट जोहते हैं और जब वह आ जाता है तो उसमें समाए हर दिन को रात में बदल देने की कोशिश करते हैं। जाने कितने दशक बीत गए, कोई बरस उपलब्धियों का बरस नहीं बन पाया। सारे वर्ष अमावस के खाते में गए। उजास अपनी कोरी बही लिये आज भी खड़ी है। यह क्या हो गया सम्वेदना को कि बरस देखते–देखते यों बीत जाता है जैसे उसके कोई सरोकार किसी से नहीं है। सम्वेदना का बरस की ज़िंदगी से कोई तादात्म्य ही नहीं रह गया। बरस बीत जाता है और सम्वेदना निस्पृह खड़ी रहती है।

पहले तो हर आने वाले बरस की अगवानी करने के लिए सम्वेदना आशाओं के दीप से सजी आरती लिये खड़ी रहती थी। बरस आता था तो उसकी आरती उतारते उसे असीसती थी और फिर यह बरस किसी बुद्ध को या महावीर को अपनी उपलब्धि के रूप में गढ़ दिया करता था। बुद्ध या महावीर बरस की आशा के ऐसे स्थिर दीप हैं जिनकी निष्कम्प आलोक शिखा से आज भी उजास का निर्झर बहता है।

लेकिन अब ऐसे बरस आते नहीं। इसमें इनका नहीं हमारा दोष है। हमारे अंदर की सम्वेदना जड़ हो गई, उसके हाथ अब आशा की आरती नहीं थामते। आशा के दीप ढलना बंद हो गए। हम न तो भोर की ओस का आचमन करते हैं और न ही साँझ की लालिमा को अर्पित करते हैं, अपने अर्घ्य। भोर और साँझ हमारे लिए मात्र समय के बीत जाने के संकेत भर हैं। इसलिए अब ऐसे बरसों का आना ही बंद हो गया जिन्होंने कुछ उपलब्धियाँ सहेज रखी हों।

इन बरसों का ऐसे आकर अतीत बन जाना ठीक नहीं। बरसों का यह रीतापन न तो हमारे लिए और न ही आने वाली पीढ़ियों के लिए शुभ संकेत हैं। जो बरस आते हैं वे हमारी उपलब्धियों की धरोहर होने चाहिए, रीते घर नहीं।

नया वर्ष आए तो वह ऐसे आए कि उसकी आहटों से महसूस हो कि कोई ऐसा गीत चला आ रहा है जिसके शब्द–शब्द समय के पोर–पोर में स्वरों की गंध घोल देंगे। वह आए तो ऐसा लगे जैसे उजास की गंगा आकाश से अपने पाँवों में तारों से जड़ी पायल बाँधकर इस धरती को जगमग करने उतर पड़ी हो। उसके आगमन से यह अनुभव हो कि अब आने वाला समय हमारी नियति के बंद द्वारों पर खड़े दुर्भाग्य के प्रहरियों का अंत कर देगा और फिर उस द्वार से विश्वास के वासुदेव के कंधों पर विराजे उपलब्धि के कृष्ण निकल पड़ेंगे।

हर नया वर्ष उपलब्धि के एक नए कन्हैया का साक्षी वर्ष होना चाहिए।

मगर इन कल्पनाओं से कुछ नहीं होगा। जो कुछ होगा वह अपनी सामर्थ्य और अपने पौरुष से होगा। अपनी संकल्प शक्ति से होगा। उस कर्म से होगा जिसके बल पर वेणुगोपाल, गीता के कृष्ण बनते हैं, राम, मर्यादा पुरुषोत्तम और सिद्धार्थ, बुद्ध। कर्म, संकल्प, पौरुष और सामर्थ्य सिर्फ शब्द भर नहीं हैं। वे ऐसी नियामक शक्तियाँ हैं जो संसार की नियति बदल देती हैं, भाग्य के रथ चक्रों को मोड़कर उनकी दिशा बदल देती हैं, जीवन का प्रवाह बदल देती हैं और उन सन्नाटों का दम्भ तोड़ देती हैं जिनकी हुकूमत सदियों से जनमानस के कंठों पर चलती आई हैं।

तो इस नए वर्ष का स्वागत इन्हीं नियामक शक्तियों के फूलों से गुँथी माला से करें और उम्मीद करें कि इस नए वर्ष में कंठों पर किसी सन्नाटे की हुकूमत नहीं होगी और हमारे स्वर पूरी स्वतंत्रता के साथ मुखरित होंगे। निराला की भी यही कल्पना थी :

गूँजो फिर से तुम, रुद्र कंठ सामगान।

मौसम तुम समा जाओ मुझमें

पहले मौसमों पर लिखता था, अब लिख ही नहीं पाता। ठंड पर लिखने बैठता हूँ तो लगता है आसपास फैली तपन मुझे झुलसा देगी और गर्मी को शब्दों में बाँधने के लिए कलम उठाता हूँ तो लगता है मुझे हिमालय ने जकड़ लिया हो। मौसमों के अहसास बदल गए। वे अनुभूतियाँ उपजती नहीं, जो कभी ऋतुओं की देन हुआ करती थीं। इन ऋतुओं की अब कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

मुझे लगता है, सारे मौसम एक सरीखे से हैं।

ठंड, गर्मी, बरसात, हेमंत, शरद और वसंत सिर्फ नाम भर हैं। पंजाब के खाड़कू और काश्मीर के जंगजू जब किसी मौसम की पहचान नहीं रखते तो मैं कैसे रख पाऊँ। मैं भी इन्हीं की ओर टकटकी लगाकर सारे देश की तरह ताकता रहता हूँ, क्योंकि इन्होंने सारे देश को स्तब्ध कर रखा है। इन्होंने मौसमों की प्रकृति को बंदी बना लिया, हवाओं की दिशा बदल दी, फूलों की गंध, फलों का रस और गीतों के स्वर छीन लिये। आँखों की पुतलियों को स्थिर कर दिया और दिमाग को संज्ञाशून्य। ऐसे में मैं कहाँ से किसी वसंत की आहट सुनूँ या शरद की दस्तक को पहचान लूँ।

मुझे तो लगता है कि मैं बस एक अंतहीन रेगिस्तान में फैली गर्म रेत पर निरंतर सफर कर रहा हूँ। इस रेगिस्तान में कहीं मरीचिका भी नज़र नहीं आती।

आतंक ने, भय ने और आशंका ने मस्तिष्क की सम्वेदना का अपहरण कर लिया।

मौसम आते हैं और चले जाते हैं। ठीक ऐसे मुसाफिरों की तरह, जिनका आना और जाना किसी भी धर्मशाला की दिनचर्या को नहीं बदलता।

यह भी क्या बात हुई ? इतनी घनी निराशा कि हम मौसमों को पहचानना भूल जाएँ? आतंक का ऐसा कठोर दबाव की मस्तिष्क संज्ञाशून्य हो जाए? मौसम से दूर रखने के लिए अकेला आतंक ही ज़िम्मेदार क्यों ? यह ज़िम्मेदारी तो कई के बीच बँटी है, अकेले आतंक तक सीमित नहीं। हमारा कलुष, हमारी भीरुता, हमारी पराश्रयता, हमारे स्वार्थ, कृत्रिमता, संकीर्णता, थोथा दम्भ और मानसिक निर्धनता जैसे कई शब्द हैं, जिनकी व्यंजनाएँ इसके लिए ज़िम्मेदार हैं। इन व्यंजनाओं के बादलों ने ऋतुओं के आलोक को रोक लिया।

इन शब्दों ने हमारे और ऋतुओं के बीच ऐसी देहलीज़ बना दी, जिसे पार करना कठिन हो गया।

हम रोज़ ही आत्मविश्लेषण भी कर लिया करते हैं और यह तय कर लेते हैं कि ऐसी दूरी क्यों है ? मज़ेदार बात यह है कि हम जितना आत्मविश्लेषण करते हैं, उतनी ही दूरी बढ़ती जाती है।

पहले ऐसा नहीं था। हमारे पूर्वज आत्मविश्लेषण की ओर इतने उन्मुख नहीं थे। वे बड़े निश्छल और पारदर्शी थे। वे बड़े निर्भय, दम्भहीन, स्वावलम्बी और उन्मुक्त थे। वे मौसमों की अगवानी ही नहीं करते थे, बल्कि उन्हें आत्मसात कर लिया करते थे। ऋतु और वे डूब जाया करते थे एक–दूसरे में। इसलिए उनकी अनुभूतियाँ बड़ी जीवंत हुआ करती थीं। मौसम उनके जीवन को रंग देते थे, स्वर देते थे। उनके मनों में आतंक नहीं समाया रहता था। आशंकाएँ मस्तिष्क को आंदोलित नहीं किया करती थीं। भय बहुत दूर हुआ करता था। वे प्रकृति के बहुत नज़दीक थे, इसलिए मौसमों से उनके रिश्ते बड़े आत्मीय थे। हर मौसम उनमें समा जाता था और वे उसमें। गौर से यदि मध्यकालीन चितेरों के चित्रों को देखें तो हम पाएँगे कि उन्होंने सभी बारह माहों की नैसर्गिक विविधता को अपने चित्रों में उकेरा है। राग और रागनियों को रंगों में रूपायित करते उन्होंने निस्सर्ग के भी रेशे–रेशे को अपनी तूलिका से उभारा है। चाहे अजंता के भित्तिचित्र हों या निहालचंद और मंसूर की कलम से उकेरे गए किशनगढ़ और मुगल शैली के लघुचित्र, इन सबमें प्रकृति की महिमा गाई जाती मिलेगी। इस काल के चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता है, कि चित्रकार ने यदि एक पेड़ चित्रित किया है तो उसकी एक–एक पत्ती स्पष्ट उकेरी है। यह उनके प्रकृति के प्रति अद्‌भुत समर्पण का अप्रतिम उदाहरण है।

हम ऐसे नहीं हैं। कह सकते हैं कि बदलते वक़्त ने, हमारा मिजाज़ बदल दिया। परिस्थितियों के दबाव से जन्मी मजबूरी ने हमें मौसम से दूर कर दिया। लेकिन यह सही नहीं है पूरी तरह। परिस्थितियों से जन्मने वाली विवशताएँ, हर काल में होती हैं। मजबूरी आड़े तब आती, जब मौसम अपने मिजाज बदल लेते लेकिन मौसमों ने अपनी प्रकृति नहीं बदली। कृत्रिमता चाहे स्वभाव की हो या संसार की, हर युग में रहती आई है, लेकिन उसका अधिनायकवाद जितना अब हावी हो गया, उतना पहले नहीं था। आर्थिक विषमताएँ बढ़ीं, लेकिन हकीकत यह है कि समाज के निर्धनतम लोग आज भी प्रकृति के निकट हैं। गाँवों में बसने वाले गरीब किसान और कारखानों में काम करने वाले दैनिक वेतनभोगी मजदूर आज भी बड़े उल्लास से वसंत मनाते हैं और शरद का स्वागत करते हैं। उनके लिए आर्थिक विपन्नता निराशा का कारण नहीं है, बल्कि ऐसी अनिवार्यता है, जिसे झेलने का साहस उन्होंने सँजो रखा है। यही साहस उनकी जिजीविषा है। वे इस विपन्नता से लड़ते हैं, उसका बोझ सिर पर नहीं रखते और इस आशा के साथ संघर्ष में जुटे रहते हैं कि यह उनसे दूर हो पाएगी। इस लड़ाई में कहीं कोई दम्भ आड़े नहीं आता। अहं कहीं टकराते नहीं और न ही भीरूता रास्ता रोकती है।

आशा, संकल्प और साहस की मशालें थामे ये लोग जितने उत्साह से अपनी लड़ाई लड़ते हैं, उतने ही उत्साह से ऋतुओं का स्वागत करते हैं। हमारे जैसे लोगों की कठिनाई यही है कि ये साहस के जीवंत प्रतिमान हमारी प्रेरणा नहीं बन पाते। ये लोग हमारे लिए वे मामूली लोग हैं, जिनके पास कोई उपलब्धि नहीं। मगर यह बात भुला दी जाती है कि जो उपलब्धियाँ इनके पास हैं, वे दुर्लभ हैं, अमूल्य हैं। ये लोग ऋतुओं के खजानों के स्वामी हैं।

वसंत की केशर और शरद की चाँदनी इनकी धरोहर है। इन ऋतुओं से इनका तादाम्य इतना गहरा है कि यही कुछ लोग आज मौसमों को परिभाषित करते हैं। इनके पास आभिजात्य नहीं, अहं नहीं, कृत्रिम वैभव नहीं, मगर निस्सर्ग की माला और पलाश के केशरिया रंग से रँगी क़ीमती चूनर है। ये भरपूर जीने वाले वे लोग हैं, जिनका नाम नैसर्गिक उपलब्धि के मंदिर की आधारशिला भी है और कलश भी।

ये संदर्भ ग्रंथ हैं ऋतुओं के। हम तो समूचे संदर्भों से कटे लोग हैं, जो कुछ हासिल न कर पाने की खीज मौसमों पर उतारते हैं, उन्हें मान्यता नहीं देते और इस तरह एक अंतहीन रेगिस्तान के बीच निरंतर सफर करते रहते हैं।

एक भ्रांति है, जिसने हमारी जीवन शैली को नीरस बना दिया। इस भ्रांति ने यह बात पैदा की, कि उपलब्धि सिर्फ अर्थ से जुड़ी है। अर्थ से जो चीज़ न जुड़ी हो, उसे उपलब्धि ही नहीं माना जाता। यश और वैभव में उपलब्धियाँ खोजी जाती हैं। एक नई संस्कृति विकसित हुई है, जिसका धर्म अकर्मण्यता और जोड़–तोड़ है। चाहते हैं कि कम समय में बिना कर्म किए उपलब्धियाँ पा लें, भले ये उपलब्धियाँ जाने कितने कर्मवादी लोगों के अधिकारों का हनन कर मिलें। इस संस्कृति ने वैषम्य का विष उगला और विसंगतियों की नागफनियों के जंगल खड़े कर दिए। इस संस्कृति ने मौसमों से जुड़ने के सारे सूत्र तोड़ दिए। इस संस्कृति ने मूल्यों का व्यवसायीकरण कर दिया और प्रकृति की तिजारत शुरू कर दी। हरियाली बिकने लगी। लहरें निर्यात होने लगीं सुगंध को डिब्बों में बंद किया जाने लगा और गुलाब की पाँखुरी पर ठहरी शबनम के शेयर तैयार हो गए।

इस नई संस्कृति ने सृजन पर विराम लगाकर संहार का पूजन शुरू कर दिया। यह सब कुछ बड़ा साफ और स्पष्ट है, फिर भी आँखें खुलती नहीं, होंठ फड़कते नहीं, क़दम थमते नहीं और मन बदलता नहीं।

यह बदलाव आना ही चाहिए। जल्दी आना चाहिए। इसलिए कि हम जानते हैं कि मौसमों से नाते तोड़ने के परिणाम क्या हैं ?

मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। मेरे वसंत के पलाश तुम ठहरे रहना इस बार डाल पर, सूखकर गिरना मत, मैं आऊँगा तुम्हें लेने और फिर तुम्हारे केशरिया रंग में भीगकर पराग में नहाए इस सृष्टि के उपवन को बार–बार प्रणाम करूँगा।

यह क्या हुआ हिमालय को ?

यह क्या हुआ हिमालय को ? भूगर्भ शास्त्री कहते हैं कि पृथ्वी के नीचे कुछ हलचल हुई और हिमालय कुछ ऊपर उठ गया। वे कहते हैं कि हिमालय की ऊँचाई का रहस्य यही है कि सदियों से धरा के गर्भ में हलचल मचती है और हिमालय के शिखर पर ऊँचाई का शिशु जन्म जाता है। ऊँचाई के जाने कितने शिशु जन्मते गए और हिमालय ऊपर उठता गया। लेकिन जब कभी हिमालय के शिखर पर ऊँचाई का एक शिशु जन्मता है, पृथ्वी के जाने कितने शिशु अनाथ हो जाते हैं, जाने कितने ही अकाल, कालकवलित हो जाते हैं।

हिमालय जब कभी अपनी बढ़ी हुई ऊँचाई के दर्प में डूबा शिशु जन्म का उत्सव मनाता है, जाने कितनी अंत्येष्टियों की साक्षी बनी यह ध्वस्त धरा अंतहीन क्रंदनों के चीत्कारों में डूब जाती है।

भूकम्प हिमालय की बढ़ती ऊँचाई की निम्नतम परिणति है। इस ऊँचाई के अहं ने जाने कितनी उत्तरकाशियों को उजाड़ा होगा, गढ़े जाने से पहले जाने कितने गढ़वाल गड्ढों में समा गए होंगे और जाने कितनी दिल्लियाँ दहशत से दशकों तक दहलती रही होंगी।

ऊँचाई सिर्फ आसमान देखती है, उसके कोई सरोकार देहलीज से नहीं होते। उसे सिर्फ ऊपर उठने का जुनून होता है और इस जुनून में उसे मानवता, भाईचारे और मैत्री के कोई रिश्ते याद नहीं रहते। यदि याद भी रहें तो ये रिश्ते बहुत बौने होते हैं उसकी नज़र में।

नेपोलियन ऊँचा नहीं था, ठिगना था। एक बार वह अपनी लायब्रेरी के ऊँचे रैक से एक पुस्तक उठाना चाहता था लेकिन वहाँ तक उसका हाथ नहीं पहुँच पा रहा था। तभी उसका कद्दावर सेनापति आया और बोला, सम्राट पुस्तक मैं उठा देता हूँ मैं आपकी बनिस्बत ऊँचा हूँ, नेपोलियन ने तुरंत प्रतिवाद किया, "सेनापति तुम ऊँचे नहीं हो, लम्बे हो।" सही ऊँचाई यही होती है जो नेपोलियन के पास थी। वह ठिगना क़द में ज़रूर था लेकिन बहुत ऊँचा था। लम्बे बहुत होते हैं लेकिन ऊँचे बहुत कम। जिस ऊँचाई को सिर्फ अपनी परवाह हो, वह ऊँचाई, अपने आपको ऊँचाई कहे ज़रूर मगर वास्तव में वह ऊँचाई, ऊँचाई नहीं होती लम्बाई होती है।

कालिदास ने जब हिमालय की वंदना करते गाया, "अस्त्युत्तरस्यां दिशी देवात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" और जब राष्ट्रकवि दिनकर ने हिमालय की प्रशस्ति की, मेरे नगपति मेरे विशाल..... तब उनकी दृष्टि हिमालय की ऊँचाई पर थी लेकिन आज जब भूकम्प के संदर्भ में मैं उत्तुंग हिमालय को देखता हूँ तो उसकी ऊँचाई मुझे नज़र नहीं आती। वह सिर्फ लम्बा दीखता है।

दृष्टि महत्त्वपूर्ण होती है। दृष्टि ऊँचाई को लम्बाई और लम्बाई को ऊँचाई में बदल देती है। गिरिराज हिमालय इसी दृष्टि के कारण लम्बा या ऊँचा हो जाता है। लेकिन सच यह भी

है कि भले दृष्टि की भिन्नता हो मगर व्यवहार से सब कुछ आँका जा सकता है। दृष्टि के कोण बिलकुल विपरीत नहीं हो सकते।

लम्बाई का दम्भ स्पष्ट दीख जाता है और सच्ची ऊँचाई की गरिमा अलग दमकती है। लम्बाई का लबादा ओढ़े जो ऊँचाई नज़र आती है उसका छद्म खुद टूट जाता है।

किसी भूकम्प के बाद हिमालय के शिखर पर जो ऊँचाई का शिशु जन्मता है वह सही मायनों में लम्बाई का शिशु होता है, सच्ची ऊँचाई से उसके सरोकार नहीं होते।

इस तथाकथित ऊँचाई ने हमसे हमारी ज़मीन छीन ली। मिट्टी की गंध छीन ली। रस छीन लिया। समझ में नहीं आता कि ज़मीन छोड़कर इसे आसमान में कहाँ से गंध मिलेगी और कहाँ से रस। ज़मीन पर खड़े रहो या पड़े रहो तो अवलम्ब मिल जाता है। ज़मीन पर खड़े रहते हुए यदि गिरो भी तो सँभल सकते हैं लेकिन आसमान तक ऊँचे उठो और एक़दम ज़मीन पर गिरो तो ज़मीन भी सहारा नहीं देती। इतिहास की गवाही में ऐसे जाने कितने नाम हैं जिन्होंने आसमान चूमने की कोशिश की मगर जब आसमान ने धकेला तो ज़मीन ने उन्हें याद रखना भी गवारा नहीं किया। आसमान एक छलावा है, सिर्फ छलावा, जिसका स्पर्श कभी हासिल नहीं होता। इसलिए आसमान को छू लेना मुहावरा बन गया। मुहावरे असफल प्रयासों को शब्दों में बाँधने की कोशिशें हैं। हमारे अहं की लम्बाई जब आसमान की तरफ बढ़ती है तब वह इस मुहावरे की असलियत से अनजान रहती है।

आज इन तथाकथित ऊँचाइयों के बीच प्रतिस्पर्द्धा है। असली ऊँचाई शायद पाताललोक में होगी।

जाने कितने बरस बीते कोई बुद्ध नहीं हुए इस देश में, महावीर भी नहीं, कबीर भी नहीं, तुलसी भी नहीं, सूर भी नहीं। क़द दशक हुए तब गांधी जन्मे थे मगर इस ऊँचाई को भी लम्बाई ने मार डाला।

इन कथित ऊँचाइयों की प्रतिस्पर्द्धा में धरती हिल रही है। धरती तब तक स्थिर थी इस देश की जब तक यहाँ ऐसी ऊचाइयाँ मौजूद थीं जिनके पाँव ज़मीन पर रहते। थे। अब वह डगमगा जाती है क्योंकि वह हल्की हो चली। अब इस ज़मीन पर जो तथाकथित ऊँचाइयाँ हैं, उनकी कोशिश है कि वे जन्मते ही आसमान छूने लगें। उनके पैर ज़मीन पर टिकते नहीं। अब उन्हें आकाश का गुरुत्वाकर्षण खींचता है। धरती का चुम्बक अब उनके लिए महत्त्वहीन है। ये तथाकथित ऊँचाइयाँ ऐसे भास्कराचार्य की प्रतीक्षा में हैं जो धरती पर जन्म लेकर यह कहे कि गुरुत्वाकर्षण आसमान में होता है।

इन ऊँचाइयों को यह भी परवाह नहीं कि उनकी अंधी महत्त्वाकांक्षा जाने कितने पखेरुओं की ज़िंदगी वीरान कर देती है। आकाश जब इन ऊँचाइयों से भर जाए तो पंछी कहाँ उड़ें ? इन पखेरुओं की परवाज छीनने का कोई हक इन्हें नहीं है। लेकिन विडम्बना यह है कि हक छीनना ही इन्होंने अपना हक मान लिया।

ये कथित ऊँचाइयाँ आकाश में अपने अस्तित्व के लिए लड़ रही हैं इन्हें शायद यह नहीं मालूम कि इनका अस्तित्व तो ज़मीन पर खत्म हो चुका।

सच्चाई और असलियत इन जागीरदारों की ऐसी जागीरें हैं जिसकी ज़मीनों पर इस देश के मामूली आदमी बंधुआ मजदूरों के रूप में झूठ और फरेब की फसलें बोने को मजबूर हैं।

इस आज़ाद देश का यही दुर्भाग्य है कि इसे इन तथाकथित ऊँचाइयों ने नीचा गिराने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

छोटे आदमी छोटे ही रहे और जो कुछ ऊँचे हुए उन्हें इन तथाकथित ऊँचाइयों ने बरगला दिया। उनके पाँवों के नीचे की ज़मीन छूट गई और वे ऐसे ऊँचे बबूलों में तब्दील हो गए जिनकी जड़ें नहीं थीं।

चिंतन के पाँव नहीं थमते। उसके सामने तो अंतहीन रास्ता है जिस पर हर पल उसकी पदचाप गूंजती है। यह चिंतन इन ऊँचाइयों की असलियत को जाने कब से नापता चला आ रहा है, न तो उसके पाँव थमते हैं और न ही इन अतहीन रास्तों के आखिरी छोर नज़र आते हैं।

ऊँचाई के नाम पर पनप रही इस लम्बाई का पनपना कैसे रुके ? इस सवाल का जवाब भी ऊँचाई ही है। वह ऊँचाई जो दूब में होती है। दूब को कोई दम्भ नहीं होता। दूब के पास लम्बे होने की अंधी महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। दूब के पास देने को सिर्फ हरियाली होती है, उसके मन में लेने की कोई अपेक्षा नहीं होती। दूब के पास चुभोने के लिए काँटे नहीं होते। उसका क़द भले ठिगना हो लेकिन वह कभी झुकता नहीं। नानक ने कहा था :

"नानक नन्हें बने रहो, जैसे नन्हीं दूब,
हरी घाँस जल जाएगी, दूब खूब की खूब"

आज दूब–सी ऊँचाई चाहिए। दूब को इसलिए हेय नहीं मानना चाहिए कि वह सदैव ठोकरों में रहती है और इसीलिए उसका कोई आत्मसम्मान नहीं है। यह सोचने वाले शायद यह भूल जाते हैं कि जिस दूब पर पैर रखते लोग उसे कुचलने का दम्भ भरते हैं दूब उनके दम्भ पर हँसती है। दूब का आत्मसम्मान इसी में निहित है कि उसका सिर कोई कुचल नहीं सका। वह खड़ी रही ज्यों की त्यों अपनी अस्मिता लिये और उसे कुचलने का दम्भ भरने वाले वक़्त के हाथों कब रौंद दिए गए इसका कोई इतिहास नहीं।

सिर पर पैर रखने से आत्मसम्मान नहीं रौंदा जाता। आत्मसम्मान तो तब रौंद दिया जाता है जब सिर अपने दम्भ में ऊपर उठता चला जाए और उसकी इस ऊँचाई की बेइज़्ज़ती तब हो जब धरती उसके उठे हुए पाँवों को फिर अपने आप पर उतरने की इजाज़त न दे।

असली ऊँचाई वह होती है जिसे नीचाई से असीम स्नेह होता है और आसमान भी उसके दरबार में उतर पड़ता है।

दादा माखनलाल ने यह बात पकड़ ली थी, उन्होंने कहा था :

"ऊँचाई यों फिसल पड़ी है नीचाई के प्यार में
क्या आकाश उतर आया है दूबों के दरबार में"

इसलिए आज ज़मीन पर खड़ा खड़ा अपना सारा दम्भ विसर्जित कर यही सोच रहा हूँ।

यह क्या हुआ हिमालय को ? मेरे हिमकिरीट अब और लम्बे मत होना अन्यथा आगे रचा जाने वाला इतिहास तुम्हारे देवत्व को निगल लेगा। तुम तो वैसे ही रहो जैसे हो। उत्तरकाशी और गढ़वाल तुम्हारे ही आँचल में पलते आए हैं उन्हें असीसते रहो। वे तुम्हारे ही ऊँचे देवत्व की धरोहर हैं मेरे नगपति।

कृपया मौन हों भविष्यवक्ता

जो अपना खुद का भविष्य नहीं जानते वे सबसे बड़े भविष्यवक्ता हैं। भविष्य एक ऐसा चुम्बक है जो सभी को खींचता है। बड़ा आकर्षण है, भविष्य के इस चुम्बक में। जिज्ञासा जननी है इस आकर्षण की। इसलिए इस जिज्ञासा को भुनाने के लिए ऐसे अनगिनत भविष्यवक्ता मौजूद हैं जो खुद अपना भविष्य नहीं जानते लेकिन दूसरों का भविष्य ज़रूर गारंटी के साथ बताते हैं।

अखबारों में रोज़ भविष्यफल छपते हैं, पत्रिकाओं में चमत्कारिक भविष्यवाणियों की कहानियाँ छपती हैं, ज्योतिषियों की जीवनियाँ छपती हैं, पिछली भविष्यवाणियाँ किस हद तक सही निकलीं यह भी छपता है और यह भी कि यदि ये सब सही निकलीं तो आने वाले समय के बारे में जो भविष्यवाणियाँ की गईं वे भी किस हद तक सही होंगी।

भविष्य साधा भी जाता है, जिसके लिए मालाएँ हैं, हवन हैं, जाप हैं, ताबीज़ और गंडे हैं, तरह–तरह के नगों की अंगूठियाँ हैं। कई ऐसे भी नज़र आ जाते हैं जिनकी उँगलियाँ नहीं दीखतीं, अंगूठियाँ दीखती हैं, गले नहीं दीखते मालाएँ दीखती हैं, कपाल दिखाई नहीं देता चंदन की परत नज़र आती है। यह सब शायद भविष्य जानने की जिज्ञासा से कम और भविष्य के भय से ज़्यादा जुड़ा हुआ है।

पहले भविष्य आशा जगाता था, आज भय जगाता है। ये भविष्यवक्ता इसी भय की उपज हैं। आखिर सभी इतने क्यों चिंतित हैं, भविष्य के प्रति ? शायद इसलिए कि आज का वर्तमान भी डर पैदा करता है और इसी डर के आधार पर यह आशंका जन्मती है कि भविष्य भी कहीं इससे ज़्यादा डरावना न हो। आज के व्याप्त भय की तुलना में आगामी कल का भय ज़्यादा है। भय के इस दायरे में भविष्य सिमट गया और वे निर्माण की योजनाएँ ढह गईं जिनकी नींव आशा और विश्वास के पत्थरों पर रखी जानी थी।

आशंका का, भय का यह मनोविज्ञान इतना ज़्यादा छा गया है हमारे मनमानस पर कि इसकी धुंध में वर्तमान के रास्ते भी ठीक से नज़र नहीं आते। इस कुहासे में लगता है पथ खो गए। भविष्य की आशंका से वर्तमान भी मिटता जा रहा है। तभी चुपचाप आक्रांत भाव से मूढ़ बने बैठे हैं। इससे कर्म की गति अवरुद्ध हो गई है। भविष्य से इतनी भयभीत पीढ़ी शायद ही पहले कभी इतिहास के पन्नों पर गुज़री हो।

मगर भविष्य भी ऐसी अनिवार्य विवशता है, जिसे झेलने के लिए सभी बाध्य हैं। इससे बच नहीं सकते। तब फिर सिर्फ इसलिए क्यों भयभीत हैं कि आने वाला कल सिर्फ निराशा ही लेकर आएगा। भयभीत रहते हुए निराशा को झेलने से अच्छा है कि निर्भय होकर भविष्य का सामना किया जाए। यदि ऐसा हो पाया तो बहुत मुमकिन है कि भविष्य भी बजाय भय लेकर अभय का कलश लिए हमारे स्वागत में तत्पर खड़ा मिले।

भविष्य हाथ की रेखाओं में देखा जाता है, जितना वक़्त इन हथेलियों को देखने में गुज़ार दिया जाता है यदि उतना वक़्त इन हथेलियों से कुछ बनाने में लगाया जाए तो भविष्य शायद अपने आप उज्ज्वल हो। अनगिनत हथेलियाँ फैली हैं, और मिट्टी राह देख रही है अपने गढ़े जाने की। आँखें हाथ की रेखाओं पर टिकी हैं, उन्हें फुरसत नहीं कि वे देश के हालातों की तरफ उन्मुख हो सकें। इन हथेलियों के फैलाने का यह परिणाम हुआ कि देश आज हाथ फैलाए खड़ा है। हथेलियों पर जो रेखाएँ उभरी हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता लेकिन यदि ये हथेलियाँ फैले रहने के बजाए गतिशील हों तो बहुत बदलाव आ सकता है। ये हथेलियाँ यदि फैली न रहकर मुट्ठियों में बदल जाएँ तो इन मुट्ठियों के प्रहार से विकास के मार्ग में पड़े पत्थर चूर–चूर हो सकते हैं बंद मुट्ठी पौरुष और खुली हथेली नपुंसकता की प्रतीक होती है।

हाथ की रेखाओं से यदि भविष्य बदल पाता तो फिर हमारी आस्था को राम और कृष्ण जैसे पौरुष प्रतीकों की ज़रूरत ही नहीं होती। हमारे ये इतिहास स्रष्टा जिन्हें हम भगवान कहते हैं, वास्तव में ऐसे इंसान थे जिन्होंने हाथ पर पड़ी रेखाओं के मुकाबले हाथ से जन्मने वाले कर्म को प्रतिष्ठित किया। हाथ की रेखाएँ अपना भविष्य जानने के लिए भी देखी जाती हैं। लोग अपनी आयु की रेखा देखते हैं, सम्पत्ति की रेखा देखते हैं, रोग की रेखा देखते हैं लेकिन कर्म की कोई ऐसी रेखा नहीं देखी जाती जिसके आधार पर यह भविष्यवाणी की जा सके कि इस रेखा के आधार पर नया क्या गढ़ा जाएगा? अकर्मण्य आँखें, अकर्मण्य हथेलियाँ देखती हैं, न तो उन आँखों को वह रेखा सूझती है, न उन हथेलियों में ऐसी रेखा का कोई आकार होता है।

हरेक अपनी हथेली की रेखाओं के आधार पर अपना भविष्य तलाशता है और इस तलाश में सारे समाज और देश का भविष्य गुम हो जाता है। हाथ की रेखाओं, नक्षत्रों, जन्म कुंडलियों और ग्रहों को आधार न बनाते हुए यदि कर्ममय दृष्टि को भविष्य के आकलन का आधार बनाया जाए तो यह आने वाली पीढ़ी के उज्ज्वल भविष्य के लिए ज़्यादा हितकारी होगा। आगामी पीढ़ी के भविष्य के लिए हमें हमारी खुली हथेलियों को बंद कर लेना चाहिए।

जो गुज़र गया वह अतीत है, जो बीत रहा है वह वर्तमान है लेकिन दोनों की ही उपलब्धियाँ अंतिम नहीं हैं। पूर्ण नहीं हैं। पूर्णता तो भविष्य के गर्भ में छुपी है। उसे पाया कैसे जाए? वह तो तभी मिल पाएगी जब भविष्य से सामना होगा। पूर्णता को परिभाषित करना बहुत मुश्किल है। इसलिए कि पूर्णता हमेशा अपूर्ण होती है। जैसे ही यह तय होने लगता है कि अब उसका आकार पूरी तरह गढ़ा जा चुका है वैसे ही उसकी आकृति में कमियाँ नज़र आने लगती हैं और पूर्णता अपूर्ण बनी रहती है। मगर यह स्थिति तो बने ? अभी तो हमारे अतीत और वर्तमान की उपलब्धियाँ इतनी अधूरी हैं कि आने वाले कल में हम पूर्णता के किसी आकार की कल्पना नहीं कर सकते लेकिन यदि आज की फैली हुई हथेलियाँ कुछ करने के इरादे से बंद कर ली जाएँ तो यह आकार धीरे–धीरे रूप ले सकता है। मगर यह सब कुछ कंठ से नहीं कर्म से होगा। कंठ से तो जाने कितनी सदियों से सुनहरे भविष्य की रूपरेखा के गान फूट रहे हैं लेकिन ये गीत आज भी गीत हैं। भविष्य के बारे में लिखी गई कविताओं की

इबारतों में कोई फर्क़ नहीं आया। भविष्य की जो कविता आज से सौ बरस पहले लिखी गई वही आज भी लिखी जा रही है सिर्फ शब्दों में हेरफेर हुआ, भाषा का शिल्प बदल दिया गया, भाव कुछ और केश राशि की तरह सँवार दिए गए। यह सब कंठ और कलम का कमाल है जिसके सच्चे कर्म से कोई सरोकार नहीं रहे।

अब तो वक़्त है कुछ करने का। कंठ का कमाल बहुत हो चुका, अब कर्म को न्योता जाना चाहिए। अब मौन हो जाना चाहिए। कंठ के रज्जुओं को विश्राम देकर सोते हाथों को उठाना चाहिए। यह मौन ही भविष्य को सुनिश्चित कर पाएगा।

इसलिए भविष्य बताने वाले चुप हो जाएँ। भविष्य पूछने वाले अपनी जिज्ञासा शांत करने से बाज आएँ। अखबारों और पत्रिकाओं में भविष्य छपने की बजाए उन पत्रों पर काम करते हाथों की तस्वीरें छपें, उँगलियाँ, उँगलियाँ लगें, गले और कपाल वैसे ही लगें जैसे वे प्रकृति ने बनाए हैं।

नग उँगलियों की बजाए उस आधारशिलाओं पर जड़ दिए जाएँ जो किसी निर्माण के लिए नींव में रखा जाना है। चंदन और माला उन द्वारों पर चढ़ें जो निर्माण की नई दिशा खोलने के लिए बन चुके हों। यही होना चाहिए तभी भविष्य आशंकामय नहीं आशामय हो पाएगा।

फूल, चिंगारी और सच

सूखी पत्तियाँ हों या लकड़ियाँ बड़ी तेज़ी से आग पकड़ लेती हैं। वे तो आतुर हो उठती हैं भस्मीभूत होने के लिए। शायद उन्हें चिंगारियों का ही इंतज़ार होता है और देखते–देखते आग की लपटें उनके अस्तित्व को अपने में समेट लेती हैं लेकिन ताज़े खिले हुए फूल को अगर चिंगारियों के हवाले किया जाए तो उस फूल की पाँखुरी–पाँखुरी प्रतिरोध करती है। आग के ठंडी हो जाने के बाद भी ये बिखरी पाँखुरियाँ झुलसी मिलेंगी, उनकी राख नहीं मिलती। पाँखुरियों की शिराओं में जीवन रस बहता है। वह रस पल्लवित होने के लिए बहता है झुलस जाने के लिए नहीं। ये शिराएँ कोई समिधा नहीं होतीं जिनकी आहूति दे दी जाए यज्ञ वेदी पर।

लेकिन इस आग को, लपटों को, चिंगारियों को कौन समझाए कि वे इन फूलों पर न झपटें। बहुत से सूखे पेड़ हैं, पीली पत्तियाँ हैं, रद्दियों के ढेर हैं, सूखा कूड़ा और करकट है जो उनके ही इंतज़ार में है लेकिन जाने क्यों आग को परहेज–सा हो गया है इनसे। जंगल के बीच से गुज़री या बगीचों के बीच से सूखे पेड़ खड़े मिलते हैं, सूखी पत्तियाँ बिखरी पड़ी होती हैं लेकिन हरे पेड़ों पर फूल कहीं–कहीं दीखते। ये फूल झुलसी पाँखुरियों की शक्ल में ज़मीन पर पड़े मिलते हैं।

फूलों से आग के इस बैर का एक अनोखा इतिहास रचा जा रहा है। आज के फूल भी पुराने फूलों से नहीं रहे। पुराने फूलों का आग से बहुत कम वास्ता रहा। वे तो कली से फूल बनते, शाखों पर इतराते, मोहते मालियों को जो उन्हें वेणी में गूंथकर किसी सघन केश राशि की शोभा बना देते या माला में पिरोकर उन्हें अर्पित कर देते देवताओं को मंदिर में विराजे देवताओं को या चलते–फिरते उन देवताओं को जिनकी फूल–सी ज़िंदगी फूलों में ही सर्वस्व खोजती रही। ऐसे पुराने फूलों में ऐसे गिने–चुने मिलेंगे जिन्होंने आग को गले लगाया। दादा माखनलाल ने जो एक फूल की चाह लिखी वह किसी ऐसे ही एक सिरफिरे, अपवाद फूल की कहानी रही होगी। आग से लिपटने वाले ऐसे फूलों के नाम इतिहास ने कोई अध्याय नहीं छोड़े, चंद पन्ने छोड़े हैं।

लेकिन आज के तो हर फूल पर आग की लपटों का साया है। उसे आग ही नहीं माना जाता जिसके आगोश में फूल न समाए हों। क्या फूल खुद कूद पड़े आग की लपटों के बीच या आग स्वयं ही झपट पड़ी उन पर।

हो सकता है आग खुद ही झपटी हो। शायद सूखी टहनियों और पीली पत्तियों में मोह जाग गया हो। वे नहीं चाहती हों भस्म होना इसलिए अपने अस्तित्व की खातिर उन्होंने आग को उकसा दिया कि वह फूलों पर झपट पड़े। ऐसा भी हो सकता है कि ऐसी टहनियों और पत्तियों ने फूलों को प्रेरित किया हो कि वे आग में कूद पड़ें। कारण यही हैं, और परिणाम कुल इतना सामने है कि आग से प्रतिरोध करते फूल झुलस रहे हैं। यदि वे खुद भी गिरे हों

आग में तो भी उनका प्रतिरोध जारी है। नासमझ फूलों को आग में कूद पड़ने के बाद अपनी गलती समझ में आई हो।

सूखे पेड़ जिनमें कोई जीवन रस शेष नहीं बचा, जिनकी पूरी ज़िंदगी ज़मीन का रस चूसते बीत गई, जिन्होंने भरपूर वसंत देख लिये, उन्हें झुलसी हुई फूल की पाँखुरियों को देखकर इस बात का पश्चाताप होता है कि ये राख में तब्दील क्यों नहीं हुई ?

यह इतिहास जाने कौन से आदर्शों की स्थापना के लिए रचा जा रहा है। इसे कोई नहीं जानता क्योंकि आदर्शों की अहमियत नहीं रही। वे स्थापित हों या टूटें इससे किसी के सरोकार नहीं, सरोकार सिर्फ इतने हैं कि आदर्श नाम की संज्ञा जीवित रहनी चाहिए। यह संज्ञा ढाल बन जाने के काम आती है। आदर्श और सिद्धांत ऐसी ढाले हैं जो हर सच्चाई के प्रहार झेल लेती हैं। पहले ये सच्चाई की तरफ हुआ करती थीं लेकिन अब उसके प्रहारों को रोकने के काम आती हैं। धीरे–धीरे अब यह हो रहा है कि सच का पौरुष ढलने लगा, उसके चेहरे पर थकान के स्वेद बिंदु झलकने लगे। लड़ाई इकतरफा हो चली। इसी इकतरफा लड़ाई का परिणाम है फूलों का झुलसना क्योंकि वे नहीं चाहते कि इस सच्चाई का पौरुष मात खाए।

यह सच आखिर है क्या ? आज तो हर झूठ का अपना नज़रिया सबसे बड़ा सच है। जो जितना बड़ा झूठा है उसका दृष्टिकोण उतना ही बड़ा और अटल सच मान लिया जाता है। मगर मान लेने और होने में फर्क़ तो है। मान लेने से ऐसे झूठ सच कहे जा सकते हैं लेकिन हो नहीं सकते। सच तो वह है जो वास्तव में होता है। वह रोबोट की शक्ल में आदमी ज़रूर नज़र आए मगर असली आदमी असली आदमी होता है। वह बहुत छोटा हो तो भी अपनी जगह है और झूठ चाहे कितना कद्दावर हो वह सच के छोटे से छोटे अस्तित्व को भी मिटा नहीं सकता। सच्चाई को आज खोजने के लिए विश्लेषण करने पड़ते हैं। जाने कितने कोणों से परखना पड़ता है, जाने कितनी दूरबीनों से देखना पड़ता है। हम यह मान बैठे हैं कि सच्चाई सहज नहीं रही। शायद यही सबसे बड़ी गलती है जो हो रही है। जो सबसे सहज रूप में सामने आता है वही सच है। जो कई परदों और दरवाज़ों के बाद जाने कितनी देहलियाँ लाँघ। कर आता हो वह सच नहीं हो सकता। वह ऐसा झूठ है जो सच बनने की कोशिश करता है, स्वाँग रचता है, वेश बदलता है और भरोसा दिलाने का प्रयास करता है कि वह सच है।

सहजता से कोई अच्छा विशेषण सच को उजागर करने के लिए नहीं हो सकता। सच जितना सहज होता है उतनी ही सहजता फूलों में होती है। इसलिए फूल सच्चाई के सुगंधमय प्रतिनिधि हैं। पीली पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ ऐसे झूठ हैं जिनकी पहली कोशिश है कि फूल राख हो जाएँ।

यदि फूल सुरक्षित रहे तो सच्चाई सुरक्षित रहेगी। अभी तो बगीचों में फूलों के पौधे रोपे जा रहे हैं। उन्हें बड़े होना है, उन पर कलियों की बहार आनी है, फिर फूलों का खिलना शुरू

होगा। भविष्य के इतिहास की धरोहर को यदि हम सुरक्षित कर पाए तो यही हमारे वर्तमान की सार्थकता होगी।

चिंगारियों के लिए बहुत वीराने हैं, फिर बगीचों को क्यों वीरानों में बदला जा रहा है ?